अच्युत

वार्षिक मूल्य ६)

एक प्रति का ॥)

सम्पादक

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० नियोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अच्युत

विषय-सूची

[*अनुकृत्यधिकरण* पृ० ६४०–६४९]

विषय	पृष्ठ पंक्ति

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } काशी, श्रावण पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ७

आत्मषट्कम्—

मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥१॥

न च प्राणसंज्ञो न पञ्चानिला मे न वा सप्तधातुर्न वा पञ्चकोशः ।
न वाक्पाणिपादौ न चोपस्थपायू चिन्दानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥२॥

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥३॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोग्यं न भोक्ता चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥

न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥५॥

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि ।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥६॥

—श्रीशंकराचार्यः

भाष्य

इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति, विकाराणाममृतत्वस्याऽऽपेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३ । ४ । २) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते, नाऽन्यत्र। तस्माद् भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

भूमा ही सुख है) इस प्रकार सामय सुखके निराकरणसे ब्रह्म ही सुखरूप भूमा है, ऐसा [श्रुति] दिखलाती है। 'यो वै भूमा०' (निश्चय जो भूमा है, वह अमृत है) इस श्रुतिमें प्रतिपादित अमृतत्व भी परम कारणका ज्ञान कराता है, क्योंकि विकारका अमृतत्व किसीकी अपेक्षासे होता है क्योंकि 'अतोऽन्य०' (इससे अन्य नश्वर है) ऐसी दूसरी श्रुति है। इस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित सत्यत्व, अपनी महिमामें प्रतिष्ठा, सर्वगतत्व और सर्वात्मत्व ये धर्म परमात्मामें ही उपपन्न होते हैं, दूसरेमें उपपन्न नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि भूमा परमात्मा ही है ॥९॥

रत्नप्रभा

तत्सहितं सामयम्। आर्तम्—नश्वरम्। "स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्" [छा० ७।२५।१] इति सर्वगतत्वम्, "स एवेदं सर्वम्" [छा० ७।२५।१] इति सर्वात्मत्वं च श्रुतम्। तस्माद् भूमाध्यायो निर्गुणे समन्वित इति सिद्धम् ॥९॥ (२) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् नाश आदि दोष, उन दोषोंसे जो युक्त हो वह सामय कहलाता है। आर्त—विनाशी, नश्वर। 'स एवाध०' (वह नीचे है और वही ऊपर है) इस प्रकार आत्माका सर्वगतत्व और 'स एवेदं०' (वही यह सब है) से सर्वात्मत्व श्रुतिप्रतिपादित है। इससे सिद्ध हुआ कि भूमाध्याय निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित है ॥ ९ ॥
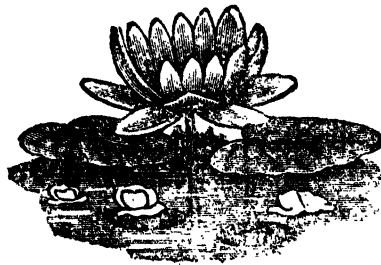
[३ अक्षराधिकरण सू० १०–१२]

अक्षरं प्रणवः किं वा ब्रह्म लोकेऽक्षराभिधा ।
वर्णे प्रसिद्धा तेनाऽत्र प्रणवः स्यादुपास्तये ॥१॥
अव्याकृताधारतोक्तेः सर्वधर्मनिषेधतः ।
शासनाद् द्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाऽक्षरमुच्यते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादि वाक्यमें पठित 'अक्षर' पद ओंकारका वाचक है अथवा ब्रह्मका ?

पूर्वपक्ष—लोकमें 'अक्षर' पद वर्ण—ओंकारमें प्रसिद्ध है, इससे ज्ञात होता है कि उक्त वाक्यमें 'अक्षर' से ओंकार ही उपास्यरूपसे कहा गया है ।

सिद्धान्त—'अक्षर' अव्याकृत—आकाशका आधार, सब धर्मोंसे शून्य, सकल जगत्‌का शासक एवं द्रष्टा कहा गया है, इससे प्रतीत होता है कि अक्षर ब्रह्मका ही वाचक है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि बृहदारण्यकके पांचवे अध्यायमें गार्गीके प्रति याज्ञवल्क्यने कहा है—'एतद्वै तदक्षरम्०' अर्थात् हे गार्गि ! यह वही अक्षर है जिसे ब्राह्मण न स्थूल कहते हैं, न सूक्ष्म कहते हैं और न ह्रस्व । यहां पर सन्देह होता है कि उक्त श्रुतिमें पठित अक्षरशब्द ओंकारका प्रतिपादन करता है अथवा ब्रह्मका ?

पूर्वपक्षी कहता है कि अक्षरशब्दसे ओंकारका ही बोध होता है, क्योंकि 'येनाक्षरसमाम्नाय-मधिगम्य महेश्वरात्' इत्यादि स्थलोंमें अक्षरशब्दकी वर्णमें ही प्रसिद्धि देखी जाती है और यहांपर ओंकार उपास्यरूपसे कहा गया है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—अक्षरशब्द ब्रह्मका ही वाचक है, क्योंकि 'एतस्मिन्नक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च' (हे गार्गि ! इस अक्षरमें आकाश—अव्याकृत ओत-प्रोत है) इस श्रुतिमें 'अक्षर' आकाश-शब्दवाच्य अव्याकृतका आधार कहा गया है । ओंकार—वर्ण उसका आधार नहीं हो सकता । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' श्रुतिसे अक्षरमें सांसारिक सब धर्मोंका निषेध किया गया है, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (हे गार्गि ! सूर्य और चन्द्रमा उसी अक्षरके शासन—आज्ञामें विशेषरूपसे स्थित रहते हैं) इस तरह सारे जगत्‌के ऊपर शासन करनेवाला भी वही अक्षर कहा गया है एवं 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ' (हे गार्गि ! वह अक्षर द्रष्टा है, किन्तु उसे कोई देख नहीं पाता, वह श्रोता है परन्तु उसे कोई सुन नहीं पाता) इत्यादि श्रुति से वह द्रष्टा, श्रोता और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे पर कहा गया है । यदि अक्षरको ओंकारका वाचक मानें, तो उसमें पूर्वोक्त कोई भी धर्म संगत नहीं होगा । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही अक्षर है ।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

पदच्छेद—अक्षरम्, अम्बरान्तधृतेः ।

पदार्थोक्ति—अक्षरम्—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' इति श्रुत्युक्तमक्षरं [ब्रह्मैव, कुतः] अम्बरान्तधृतेः—पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात् ।

भाषार्थ—'एतद्वै तदक्षरं०' (हे गार्गि ! यह वही अक्षर है, जो न स्थूल है, न अणु है) इस श्रुतिमें उक्त अक्षर ब्रह्म ही है, क्योंकि वही पृथिवीसे लेकर आकाशतक सब विकारोंको धारण करता है ।

भाष्य

'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।७,८) इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः—किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते किं वा परमेश्वर इति ।

भाष्यका अनुवाद

'कस्मिन्नु खल्वाकाश०' (गार्गी पूछती है—आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, हे गार्गि ! जिसे तू पूछती है, उसीको ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है) इत्यादि-श्रुति है । यहांपर संशय होता है कि अक्षरशब्दसे वर्णका कथन है या परमेश्वरका ?

रत्नप्रभा

अक्षरमम्बरान्तधृतेः । बृहदारण्यकं पठति—**कस्मिन्निति** । "यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्च" [बृ० ३।८।३] तत् सर्वं कस्मिन् ओतमिति गार्ग्या पृष्टेन मुनिना याज्ञवल्क्येन अव्याकृताकाशः कार्यमात्राश्रय उक्तः । आकाशः कस्मिन् ओत इति द्वितीयप्रश्ने सः मुनिरुवाच । तत्—अव्याकृतस्याऽधिकरणम्, एतदक्षरम्—अस्थूलादिरूपमित्यर्थः । उभयत्र अक्षरशब्दप्रयोगात् संशयः । यथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कस्मिन्नु" इत्यादि बृहदारण्यकवाक्यको उद्धृत करते हैं। जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् पदार्थ हैं, वे सब किसमें ओत—आश्रित हैं, गार्गीके इस प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा कि सब कार्योंके आश्रय, अव्याकृत—आकाशमें वे सब आश्रित हैं । फिर गार्गीने प्रश्न किया कि अव्याकृतसंज्ञक आकाश किसमें आश्रित है ? इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गार्गि ! अव्याकृत—आकाशका अधिकरण वह अक्षर है, जो न स्थूल है; न सूक्ष्म है । वर्ण और परमात्मा दोनोंमें

भाष्य

तत्राऽक्षरसमाम्नाय इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात्, प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य चाऽयुक्तत्वात्, 'ॐकार एवेदं सर्वम्' (छा० २।२३।३) इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याऽप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणात्, वर्ण एवाऽक्षरशब्द इति।

एवं प्राप्त उच्यते—पर एवाऽऽत्माऽक्षरशब्दवाच्यः। कस्मात्?

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—'अक्षरसमाम्नाय' इत्यादिमें अक्षरशब्द वर्णमें प्रसिद्ध है, प्रसिद्धिका उल्लंघन करना ठीक नहीं है और 'ओंकार एवेदं०' यह सब ओंकार ही है) इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें वर्ण उपास्य कहा गया है, इससे प्रतीत होता है कि वह सर्वात्मक है, इसलिए अक्षरशब्द वर्णवाचक ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—परमात्मा ही अक्षर शब्दवाच्य

रत्नप्रभा

सत्यशब्दो ब्रह्मणि रूढ इति ब्रह्म भूमा इत्युक्तम्, तथा अक्षरशब्दो वर्णे रूढ इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। तत्र ओङ्कारोपास्तिः फलम्, सिद्धान्ते निर्गुणब्रह्मधीरिति विवेकः। ननु न क्षरतीति—अचलत्वानाशित्वयोगाद् ब्रह्मण्यपि अक्षरशब्दो मुख्य इत्यत आह—**प्रसिद्ध्यतिक्रमस्येति**। "रूढिर्योगमपहरति" इति न्यायादित्यर्थः। वर्णस्य—ओङ्कारस्य सर्वाश्रयत्वं कथमित्याशङ्क्य ध्यानार्थमिदम्, यथा श्रुत्यन्तरे सर्वात्मत्वमित्याह—**ॐकार इति**। प्रश्नप्रतिवचनाभ्याम् आकाशान्तजगदाधारत्वे तात्पर्यनिश्चयात् न ध्यानार्थता, अतः तल्लिङ्गबलाद् रूढिं

रत्नप्रभाका अनुवाद

अक्षरशब्दके प्रयोगसे संशय होता है। जैसे सत्यशब्दके ब्रह्ममें रूढ़ होनेके कारण भूमा ब्रह्म है, यह कहा गया है, उसी प्रकार अक्षरशब्दके वर्णमें रूढ़ होनेसे प्रकृतमें वर्ण ही अक्षरपदवाच्य है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं। पूर्वपक्षमें ओंकारकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है, ऐसा समझना चाहिए। यदि कोई कहे कि 'न क्षरति' (जो न विचलित होता है और न नष्ट होता है) इस प्रकार अचलत्व और अविनाशित्वके योगसे अक्षर शब्दका ब्रह्म भी मुख्य अर्थ हो सकता है, इसपर कहते हैं—"प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य" इत्यादिसे। क्योंकि 'रूढिर्योग०' (रूढ़ि योगसे बलवती है) ऐसा न्याय है। ओंकार वर्ण सर्वाश्रय कैसे हो सकता है यह आशङ्का करके "ओंकारः" इत्यादिसे कहते हैं कि ध्यानके लिए जैसे दूसरी श्रुतिमें सर्वात्मत्व कहा गया है, वैसे ही यहां भी सर्वाश्रयत्व कहा गया है। प्रश्न और प्रतिवचनसे ब्रह्ममें आकाशान्त जगत्के आधारत्वका तात्पर्यनिश्चय होता है, इससे प्रतीत होता है कि ओंकारमें सर्वाश्रयत्व ध्यानके लिए नहीं है, अतः तात्पर्यनिश्चयरूप लिङ्गके

भाष्य

अम्बरान्तधृतेः—पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात् । तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरमवतारितम् । तथा चोपसंहृतम्—एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति । न चेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति । यदपि—'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात् स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम् । तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥ १० ॥

स्यादेतत् कार्यस्य चेत् कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते, कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति, अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

है, क्योंकि वह आकाशपर्यन्तको धारण करता है अर्थात् पृथिवीसे लेकर आकाशतक सब विकारसमूहको धारण करता है। तीन कालोंमें विभक्त हुए पृथिवी आदि समस्त विकारसमूहको 'आकाश एव०' (आकाशमें ही वह ओत-प्रोत है) इससे आकाशमें प्रतिष्ठित कहकर 'कस्मिन्नु खल्वाकाश०' (आकाश किसमें ओत-प्रोत है) इस प्रश्नसे इस अक्षरका उपनिषद्‌में अवतरण किया है और 'एतस्मिन्नु०' (हे गार्गि! इस अक्षरमें आकाश ओत-प्रोत है) इस प्रकार उपसंहार किया है। इस आकाशपर्यन्तको धारण करना ब्रह्मको छोड़कर दूसरेमें संभव नहीं है। 'ओंकार एवेदं०' (ओंकार ही यह सब है) यह कथन भी ओम् ब्रह्मज्ञानका साधन है, इसलिए उसकी स्तुतिके लिए है, ऐसा तात्पर्य है। इसलिए 'न क्षरत्यश्नुते' (नष्ट नहीं होता और सर्वव्यापक है) इस व्युत्पत्तिसे निश्चित होता है कि नित्य और व्यापक होनेके कारण अक्षर परब्रह्म ही है ॥१०॥

कारणके अधीन कार्यका रहना ही यदि अम्बरान्त धृतिका (आकाशान्तधारणका) अर्थ है यह स्वीकार किया जाय, तो प्रधानकारणवादियोंके प्रधानमें भी अम्बरान्तधृति उपपन्न हो सकती है। आकाशान्तधारणसे अक्षर ब्रह्म ही है, यह कैसे समझा जाय? इस शंकाका समाधान करते हैं—

रत्नप्रभा

बाधित्वा योगवृत्तिः ग्राह्या इति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बलसे रूढिका बाध करके योगवृत्तिका ग्रहण करना ही ठीक है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे ॥१०॥

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—सा, च, प्रशासनात् ।

पदार्थोक्ति—सा च-अम्बरान्तधृतिश्च [परमेश्वरस्यैव कर्म नाऽचेतनस्य, कुतः] प्रशासनात्—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादिना प्रशासनश्रवणात् ।

भाषार्थ—आकाशान्त पदार्थोंका धारण करना तो परमेश्वरका ही कर्म है, अचेतन प्रधान आदिका नहीं, क्योंकि 'एतस्य वा'० (इसी अक्षर परमात्माके प्रशासन—आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे स्थित रहते हैं) इत्यादि श्रुतिमें प्रशासनका कथन है ।
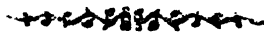
भाष्य

सा चाऽम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म । कस्मात् ? प्रशासनात् । प्रशासनं हीह श्रूयते-'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्यादि । प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म,

भाष्यका अनुवाद

यह आकाशपर्यन्तका धारण करना परमेश्वरका ही कर्म है । किससे ? प्रशासनसे । क्योंकि 'एतस्य वा अक्षरस्य०' (हे गार्गि ! इस अक्षरके अनुशासनमें सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं और वही उनका धारण करता है) इत्यादि प्रशासनकी श्रुति है । प्रशासन परमेश्वरका कर्म है । अचेतन शासक नहीं हो

रत्नप्रभा

आकाशं भूतं कृत्वा शङ्कते—**स्यादेतदिति** । चेतनकर्तृकशिक्षाया अत्र श्रुतेः नैवमित्याह—**सा चेति** । सूत्रं व्याचष्टे—**सा चेति** । चकार आकाशस्य भूतत्वनिरासार्थः । भूताकाशस्य कार्यान्तःपातिनः श्रुतसर्वकार्याश्रयत्वायोगाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकाशको भूताकाश मानकर शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । श्रुतिमें उक्त शिक्षाका कर्ता चेतन है, इसलिए अचेतन प्रधानमें अम्बरान्तधृति संभव नहीं है, यह कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे । सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"सा च" इत्यादिसे । सूत्रस्थ च-कारका तात्पर्य यह है कि 'आकाशपदसे भूताकाशका ग्रहण नहीं करना चाहिए', क्योंकि कार्यवर्गके भीतर रहनेवाला भूताकाश श्रुतिके कथनानुसार सब कार्योंका आश्रय नहीं हो सकता, इसलिए

भाष्य

नाऽचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं संभवति। नह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

सकता, क्योंकि घट आदिके कारण अचेतन मृत्तिका आदि घट आदिके शासक नहीं देखे जाते ॥११॥

रत्नप्रभा

अव्याकृतम्—अज्ञानमेव आकाशः प्रधानशब्दित इति तदाश्रयत्वाच्च अक्षरं न प्रधानमित्यर्थः। विधृतौ—विषयत्वेन धृतौ ॥११॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधानसंज्ञक अव्याकृत अज्ञान ही आकाश है। उसका आश्रय होनेसे अक्षर प्रधान नहीं है, ऐसा अर्थ है। "विधृतौ" अर्थात् विषयरूपसे धारण किये गये ॥११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

पदच्छेद—अन्यभावव्यावृत्तेः, च।

पदार्थोक्ति—अन्यभावव्यावृत्तेः—प्रधानादिधर्मभूताचेतनत्वरहितत्वात्, च—अपि [न अक्षरं प्रधानादि, किन्तु ब्रह्मैव]।

भाषार्थ—अक्षरमें प्रधान आदिका धर्म अचेतनत्व नहीं है। इससे भी अक्षर प्रधान आदि नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है।

भाष्य

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद् ब्रह्मैवाऽक्षरशब्दवाच्यम्, तस्यैवाऽम्बरान्तधृतिः कर्म, नाऽन्यस्य कस्यचित्। किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति? अन्यस्य भावोऽन्यभावस्तस्माद् व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरिति तस्याः।

भाष्यका अनुवाद

अन्यभावव्यावृत्तिरूप कारणसे भी ब्रह्म ही अक्षरशब्दवाच्य है। आकाशान्त धारण उसीका कर्म है, दूसरेका नहीं। यह अन्यभावव्यावृत्ति क्या है? अन्यका भाव अन्यभाव है, उससे जो भेद है, उसे अन्यभावव्यावृत्ति

भाष्य

एतदुक्तं भवति—यदन्यद्ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाऽऽशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः-'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) इति। तत्राऽदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्याऽपि संभवति, द्रष्टृत्वादिव्यपदेशस्तु न संभवत्यचेतनत्वात्। तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात्। न शारीरस्याऽप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम्, 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः'

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अक्षरशब्द ब्रह्मसे अन्य अर्थ—प्रधानमें प्रयुक्त है, ऐसी जो यहां आशङ्का की जाती है, श्रुति उसके—प्रधानके स्वरूपसे उस आकाशान्तका धारण करनेवाले अक्षरमें भेद दिखलाती है—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं०' (हे गार्गि ! वह अक्षर किसीसे भी दृष्ट नहीं है परन्तु स्वयं द्रष्टा है, किसीसे श्रुत नहीं है किन्तु स्वयं श्रोता है, उसका कोई मनन नहीं कर सका परन्तु स्वयं मननकर्ता है और किसीसे विज्ञात नहीं है परन्तु स्वयं विज्ञाता है) इनमें अदृष्टत्व आदि धर्म प्रधानमें भी संभव हैं, परन्तु द्रष्टृत्व आदि धर्म उसमें संभव नहीं हैं, क्योंकि वह अचेतन है। उसी प्रकार 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ०' (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है, उससे अन्य श्रोता नहीं है, उससे अन्य मननकर्ता नहीं है और उससे अन्य विज्ञाता नहीं है) यह श्रुति आत्मासे भिन्न वस्तुका प्रतिषेध करती है, इसलिए उपाधियुक्त जीव भी अक्षरशब्दवाच्य नहीं है, क्योंकि 'अचक्षुष्क०' (उसके आंख नहीं है, श्रोत्र नहीं है, वाणी नहीं है और

रत्नप्रभा

प्रश्नपूर्वकं सूत्रं व्याकरोति—**किमिदमिति**। घटत्वाद् व्यावृत्तिरिति भ्रान्तिं निरस्यति—**एतदिति**। अम्बरान्तस्य आधारम् अक्षरं श्रुतिरचेतनत्वात् व्यावर्तयतीत्यर्थः। जीवनिरासपरत्वेनाऽपि सूत्रं योजयति—**तथेति**। अन्यभावः—भेदः, तन्निषेधादिति सूत्रार्थः। तर्हि शोधितो जीव एव अक्षरं न पर इत्यत आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रश्नपूर्वक सूत्रका विवरण करते हैं—"किमिदम्" इत्यादिसे। अन्यभावव्यावृत्तिपदका 'घटत्वसे व्यावृत्ति' यह भी अर्थ हो सकता है, इस भ्रान्तिका निराकरण करते हैं—"एतद्" इत्यादिसे। श्रुति आकाशान्तके धारण करनेवाले अक्षरमें अचेतनसे भेद दिखलाती है, यह तात्पर्य है। जीवनिरास पक्षमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। अन्यभाव अर्थात् भेद, उसके निषेधसे, यह सूत्रका अर्थ है। तब शोधित जीव ही अक्षर है, परमात्मा

भाष्य

(बृ० ३।८।८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । नहि निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति । तस्मात् परमेव ब्रह्म अक्षरमिति निश्चयः ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

मन नहीं है) इस प्रकार अक्षरमें उपाधिका प्रतिषेध किया है । उपाधिके बिना जीवत्व संभव नहीं है । इससे निश्चित होता है कि अक्षरशब्दवाच्य परब्रह्म ही है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

नहीति । शोधिते जीवत्वं नास्तीत्यर्थः । तस्माद् गार्गिब्राह्मणं निर्गुणाक्षरे समन्वितमिति सिद्धम् ॥१२॥ (३) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि । शोधितमें जीवत्व ही नहीं है अर्थात् जीव उपाधिरहित नहीं है और जो शोधित—निरुपाधिक है, वह जीव नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि गार्गिब्राह्मण निर्गुण अक्षरमें समन्वित है ॥१२॥

[४ ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण सू० १३]

त्रिमात्रप्रणवे ध्येयमपरं ब्रह्म वा परम् ।
ब्रह्मलोकफलोकथादेरपरं ब्रह्म गम्यते ॥१॥

ईक्षितव्यो जीवघनात्परस्तत्प्रत्यभिज्ञया ।
भवेद्ध्येयं परं ब्रह्म क्रममुक्तिः फलिष्यति ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इस श्रुतिमें उक्त तीन मात्रावाले ओंकारका अपरब्रह्मरूपसे ध्यान करना चाहिए या परब्रह्मरूपसे ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मलोकगमनरूप सीमित फलके कथनसे प्रतीत होता है कि यहाँपर अपर ब्रह्म ध्येय है ।

सिद्धान्त—वाक्यके अन्तमें सर्वोत्कृष्ट विराट्रूप हिरण्यगर्भसे भी उत्कृष्ट साक्षात्करणीय कहा गया है, पर और पुरुष शब्दोंसे उसीकी प्रत्यभिज्ञा होती है । ब्रह्मध्यान-का ब्रह्मलोकप्राप्तिमात्र फल नहीं है, किन्तु अन्तमें मुक्ति होती है । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही ध्येय है ।

---

* तात्पर्य यह कि प्रश्नोपनिषद्में वाक्य है—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुष-मभिध्यायीत' अर्थात् जो इस तीन मात्रावाले ओंकारका परपुरुषरूपसे ध्यान करता है । यहांपर सन्देह होता है कि इस वाक्यमें ध्येयरूपसे जो कहा गया है, वह अपर ब्रह्म—हिरण्यगर्भ है अथवा पर ब्रह्म ?

पूर्व पक्षी कहता है कि उक्त वाक्यमें अपर ब्रह्म ध्येय कहा गया है, क्योंकि 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' (वह—उपासक सामद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता है) इस श्रुतिमें उपासकके प्रति ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप फल कहा गया है । परब्रह्मका ध्यान परमपुरुषार्थरूप है, उसका फल केवल ब्रह्मलोकप्राप्ति हो यह सम्भव नहीं है । और श्रुतिमें उक्त 'पर' विशेषण भी अपर ब्रह्ममें संगत हो सकता है, क्योंकि वह औरोंकी अपेक्षा पर है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यहां परब्रह्म ही ध्येय है, क्योंकि जो साक्षात्करणीय कहा गया है, उसीकी ध्येयरूपसे प्रत्यभिज्ञा होती है । वाक्यके अन्तमें कहा गया है—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इसका अर्थ है कि जो उपासक उपासनाद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचता है, वह विराट्रूप—जीवसमष्टिरूप सबसे उत्कृष्ट हिरण्यगर्भसे भी उत्कृष्ट और सबके घट २में वास करनेवाले परमात्माको देखता है । इससे प्रतीत होता है कि वाक्यके अन्तमें जो परमात्मा साक्षात्करणीय कहा गया है, वाक्यके आरम्भमें उसीका ध्येयरूपसे कथन है । पर और पुरुष शब्दोंसे उसीकी प्रत्यभिज्ञा होती है । केवल ब्रह्मलोकप्राप्तिमात्र ही उसका फल नहीं है, क्योंकि उसके अनन्तर क्रममुक्तिकी संभावना है । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही ध्येय है ।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

पदच्छेद—ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्, सः ।

पदार्थोक्ति—सः—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इति श्रुतौ ध्येयत्वेनोपदिष्टः [परमात्मैव, नापरं ब्रह्म, कुतः] ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्—'परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति वाक्यशेषे ध्येयस्य दर्शनविषयत्वेन व्यपदेशात् [कल्पितस्य दर्शनविषयत्वासम्भवात्] ।

भाषार्थ—'यः पुनरेतं०' (जो तीन मात्रावाले ओंकारका परपुरुषरूपसे ध्यान करता है) इस श्रुतिमें ध्येयरूपसे उपदिष्ट पर ब्रह्म ही है, अपर ब्रह्म नहीं है, क्योंकि 'परात् परं०' (परसे पर, शरीरप्रविष्ट पुरुषको देखता है) इस वाक्यशेषमें ध्येय दर्शनविषय कहा गया है, कल्पित पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है ।

भाष्य

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनै-

भाष्यका अनुवाद

'एतद्वै सत्यकाम०' (हे सत्यकाम ! जो ओंकार है, वह पर और अपर ब्रह्म है, इसलिए विद्वान् इसी ओंकारध्यानरूप प्राप्तिसाधनसे दोनोंमेंसे एकको प्राप्त करता है) इस तरह उपक्रम करके श्रुति कहती है—'यः पुनरेतं०' (तीन

रत्नप्रभा

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः । प्रश्नोपनिषदमुदाहरति—एतदिति । पिप्पलादो गुरुः सत्यकामेन पृष्टो ब्रूते—हे सत्यकाम ! परम्—निर्गुणम्, अपरम्—सगुणं च ब्रह्म एतदेव योऽयमोङ्कारः । स हि प्रतिमेव विष्णोस्तस्य प्रतीकः, तस्मात् प्रणवं ब्रह्मात्मना विद्वान् एतेनैव ओङ्कारध्यानेन, आयतनेन—प्राप्तिसाधनेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"एतद्" इत्यादिसे प्रश्नोपनिषद्के वाक्यको उद्धृत करते हैं । गुरु पिप्पलाद सत्यकामके प्रश्नका उत्तर देते हैं—हे सत्यकाम ! पर अर्थात् निर्गुण और अपर अर्थात् सगुण ब्रह्म वही है जो कि यह ओंकार है, क्योंकि ओंकार विष्णुकी प्रतिमाके समान पर ब्रह्मका प्रतीक है, इसलिए ओंकारको ब्रह्मस्वरूपसे जाननेवाला इसी ओंकारध्यानरूप आयतन—प्राप्तिसाधन द्वारा

भाष्य

वाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५।२,५) इति। किमस्मिन् वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यते, आहोस्विदपरमिति। एतेनैवाऽऽयतनेन परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात् संशयः।

भाष्यका अनुवाद

मात्रावाले इसी अक्षरका जो परपुरुषरूपसे ध्यान करता है)। क्या इस वाक्यमें परब्रह्मका ध्येयरूपसे उपदेश किया गया है अथवा अपर ब्रह्मका? यहांपर प्रकरण यह है कि इसी प्राप्तिसाधनद्वारा पर और अपर दोनोंमेंसे एक ब्रह्मको प्राप्त करता है, इसलिए संशय होता है।

रत्नप्रभा

यथाध्यानं परमपरं वा अन्वेति—प्राप्नोतीति प्रकृत्य मध्ये एकमात्रद्विमात्रोङ्कारयोः ध्यानमुक्त्वा ब्रवीति—यः पुनरिति। इत्थम्भावे तृतीया, ब्रह्मोङ्कारयोर-भेदोपक्रमात्। यो ह्यकारादिमात्रात्रये एकस्या मात्राया अकारस्य ऋष्यादिकं जाग्रदादिविभूतिं च जानाति, तेन सम्यग् ज्ञाता एका मात्रा यस्य ओङ्कारस्य स एकमात्रः। एवं मात्राद्वयस्य सम्यग्विभूतिज्ञाने द्विमात्रः तथा त्रिमात्रः। तमोङ्कारं पुरुषं योऽभिध्यायीत, स ॐकारविभूतित्वेन ध्यातैः सामभिः सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा परमात्मानं पुरुषम् ईक्षते इत्यर्थः। संशयं तद्बीजं चाऽऽह—किमित्यादिना। अस्मिन्—त्रिमात्रवाक्ये इत्यर्थः। पूर्वत्र पूर्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ध्यानानुसार पर या अपर ब्रह्मको प्राप्त होता है। इस प्रकार ओंकारके प्रकरणमें एकमात्र और द्विमात्र ओंकारके ध्यानका वर्णन करते हैं—"यः पुनः" इत्यादिसे। तृतीया इत्थम्भाव अर्थात् अभेदमें है, क्योंकि आरम्भमें ब्रह्म और ओंकारका अभेद दर्शाया गया है। जो अकार आदि तीन मात्राओंमें अकाररूप एक मात्राके ऋषि आदि और जाग्रद् आदि विभूतियोंको जानता है, उसके द्वारा जिसकी एक मात्रा अच्छे प्रकार जानी गई वह एक मात्रावाला ओंकार कहलाता है। इसी प्रकार जिसकी दो मात्राएँ विभूति आदिके ज्ञानपूर्वक भली भाँति जानी गईं वह द्विमात्रक ओंकार कहलाता है, इसी प्रकार त्रिमात्रकको भी जानना चाहिए। जो तीन मात्रावाले ओंकारका परमपुरुषरूपसे ध्यान करता है, वह ओंकारकी विभूतिरूपसे ध्यान किये हुए सामसे सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर परम पुरुषको देखता है, ऐसा अर्थ है। संशय और संशयके हेतुको कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। इस वाक्यमें—त्रिमात्रवाक्यमें। पूर्व अधि-

१ यहां 'लिङ्' लट्के अर्थमें है।

भाष्य

तत्राऽपरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्। कस्मात्? 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात्। नहि परब्रह्मविद् देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्,

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ऐसा संशय होनेपर प्रतीत होता है कि यह ओंकार अपर ब्रह्म है। किससे? 'स तेजसि०' (उपासक सूर्यलोकमें पहुंचता है) और 'स सामभि०' (वहांसे वह सामद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता है) इस प्रकार ओंकारको जाननेवालेके लिए सूर्यलोक और ब्रह्मलोकगमनरूप सीमित फल कहा गया है, इसलिए [ओंकार अपर ब्रह्म है]। पर ब्रह्मको जाननेवाला

रत्नप्रभा

पक्षत्वेन उक्ते ओँकारे बुद्धिस्थं ध्यातव्यं निश्चीयते इति प्रसंगसंगतिः। यद्वा, पूर्वत्र वर्णे रूढस्य अक्षरशब्दस्य लिङ्गाद् ब्रह्मणि वृत्तिरुक्ता, तद्वदत्राऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिलिङ्गात् परशब्दस्य हिरण्यगर्भे वृत्तिरिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—**तत्रापरमिति**। कार्यपरब्रह्मणोः उपास्तिः उभयत्र फलम्। सः—उपासकः। सूर्ये सम्पन्नः—प्रविष्टः। ननु वसुदान ईश्वर इति ध्यानाद् "विन्दते वसु" (बृ० ४।४।२४) इति अल्पमपि फलं ब्रह्मोपासकस्य श्रुतमित्यत आह—**नहीति**। अन्यत्र तथात्वेऽपि अत्र परवित् परम् अपरविदपरमन्वेतीति उपक्रमात् परविदोऽपरप्राप्तिरयुक्ता, उपक्रमविरोधात्। न चाऽत्र परप्राप्तिरेवोक्तेति वाच्यम्, परस्य सर्वगतत्वात् अत्रैव प्राप्तिसम्भवेन सूर्यद्वारा गतिवैयर्थ्यात्। तस्माद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

करणमें पूर्वपक्षरूपसे उक्त ओंकारमें बुद्धिस्थ परमात्माका ध्यान करना चाहिए, ऐसा इस अधिकरणमें निश्चय होता है, अतः इसकी पूर्व अधिकरणके साथ प्रसंगसंगति है। अथवा पूर्व अधिकरणमें अक्षरशब्द वर्णमें रूढ था, तो भी जगदायतनत्वरूप लिंगसे योगवृत्तिका आश्रय करके उसकी ब्रह्ममें वृत्ति कही थी, उसी प्रकार यहां देशपरिच्छिन्नफलश्रुतिरूप लिंगसे परशब्दकी हिरण्यगर्भमें वृत्ति है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्रापरम्" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें कार्यब्रह्मकी उपासना और सिद्धान्तमें पर ब्रह्मकी उपासना फल है। 'सः'—उपासक सूर्यमें सपन्न अर्थात् सूर्यलोकमें पहुंचता है। यदि कोई शंका करे कि ईश्वर ऐश्वर्य देनेवाला है, ऐसी भावनासे उपासना करनेवालेके लिए 'विन्दते०' (धन पाता है) इस प्रकार धनप्राप्तिरूप अल्प फल कहा गया है, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। दूसरे स्थलोंमें भले ही ऐसा हो, किन्तु यहां तो परको जाननेवाला परको प्राप्त होता है, अपरको जाननेवाला अपरको प्राप्त होता है, ऐसा उपक्रम है, अतः परवेत्ता अपरको प्राप्त होता है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा

भाष्य

सर्वगतत्वात् परस्य ब्रह्मणः। नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते। नैष दोषः, पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते। कस्मात्? ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। ईक्षतिर्दर्शनम्, दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म, ईक्षतिकर्मत्वेनाऽस्याऽभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति—'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति। तत्राऽभिध्यायतेर-

भाष्यका अनुवाद

देशपरिच्छिन्न फलका भोग करे यह युक्त नहीं है, क्योंकि पर ब्रह्म सर्वव्यापक है। यदि अपर ब्रह्मका ग्रहण करें तो 'परं पुरुषम्' यह विशेषण संगत नहीं होगा? यह दोष नहीं है, क्योंकि पिण्डकी अपेक्षासे प्राण भी पर है, इस प्रकार उपर्युक्त विशेषण संगत हो सकता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—पर ब्रह्मका ही यहां ध्येयरूपसे उपदेश किया गया है, क्योंकि वह ईक्षणका कर्म कहा गया है। ईक्षति अर्थात् दर्शन। ईक्षतिकर्म अर्थात् दर्शनविषय है। इस ध्येय पुरुषका वाक्यशेषमें दर्शनविषयरूपसे व्यपदेश है—'स एतस्माज्जीव०' (उपासक इस जीवघन—हिरण्यगर्भरूप परसे पर, शरीरमें प्रविष्ट हुए पुरुष—परमात्माको देखता है)।

रत्नप्रभा

उपक्रमानुगृहीतात् अपरप्राप्तिरूपात् लिङ्गात् परं पुरुषमिति परश्रुतिः बाध्या इत्यर्थः। परश्रुतेः गतिं पृच्छति—**नन्विति**। पिण्डः—स्थूलो विराट्। तदपेक्षया सूत्रस्य परत्वमिति समाध्यर्थः। सूत्रे सशब्द ईश्वरपर इति प्रतिज्ञातत्वेन तं व्याचष्टे—**परमेवेति**। सः—उपासक एतस्माद्—हिरण्यगर्भात् परं पुरुषं ब्रह्म अहमितीक्षते इत्यर्थः। ननु ईक्षणविषयोऽपि अपरोऽस्तु तत्राह—**तत्राऽभिध्यायतेरिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

माननेपर उपक्रमसे विरोध होगा। यहांपर ब्रह्मकी प्राप्ति ही कही गई है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पर ब्रह्म सर्वगत होनेके कारण यहीं प्राप्त है, तो सूर्यद्वारा गमन व्यर्थ है। अतः उपक्रमसे अनुगृहीत अपरप्राप्तिरूप लिंगसे 'परं पुरुषं' यह परश्रुति बाध्य है, ऐसा अर्थ है। परश्रुतिकी गति पूछते हैं—"ननु" इत्यादिसे। पिण्ड—स्थूलदेह—विराट्, उसकी अपेक्षा सूत्रात्मा पर है, ऐसा समाधानका आशय है। सूत्रमें 'सः' शब्द ईश्वरपरक है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, उसकी व्याख्या करते हैं—"परमेव" इत्यादिसे। श्रुतिका अर्थ यह है कि उपासक इस हिरण्यगर्भसे पर पुरुषको 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार देखता है। यदि कोई शंका करे कि ईक्षणका कर्म—विषय अपर ब्रह्म क्यों नहीं

भाष्य

तथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति, मनोरथकल्पितस्याऽप्यभिध्यायतिकर्मत्वात् । ईक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमात्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते । स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते ।

नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति । अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ । न

भाष्यका अनुवाद

अतथाभूत—कल्पित वस्तु भी ध्यानविषय होती है, क्योंकि मनोरथसे कल्पित वस्तुका भी ध्यान किया जाता है, परन्तु ईक्षणका कर्म सत्य पदार्थ ही होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। इसलिए प्रतीत होता है कि साक्षात्करणीय परमात्मा ही दर्शनकर्मरूपसे कहा गया है। और वही यहां 'पर' और 'पुरुष' शब्दोंसे ध्येय कहा गया है।

परन्तु अभिध्यानमें पर पुरुष कहा गया है और दर्शनमें परसे पर कहा गया है, ऐसी अवस्थामें एककी अन्यत्र प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकेगी? इसपर कहते हैं—पर और पुरुष शब्द दोनों वाक्योंमें समान हैं। यहां 'जीवघन' शब्दसे

रत्नप्रभा

ननु ईक्षणं प्रमात्वात् विषयसत्यतामपेक्षते इति भवतु सत्यः पर ईक्षणीयः, ध्यातव्यस्तु असत्योऽपरः किं न स्यादित्यत आह—स एवेति । श्रुतिभ्यां प्रत्यभिज्ञानात् स एवाऽयमिति सौत्रः सशब्दो व्याख्यातः। अत्रैवं सूत्रयोजना—ॐकारे यो ध्येयः सः पर एव आत्मा, वाक्यशेषे ईक्षणीयत्वोक्तेः, अत्र च श्रुतिप्रत्यभिज्ञानात् स एवाऽयमिति। ननु शब्दभेदान्न प्रत्यभिज्ञा इति शङ्कते—नन्विति । परात्पर इति शब्दभेदम् अङ्गीकृत्य श्रुतिभ्याम् उक्तप्रत्यभिज्ञाया अविरोधमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसपर कहते हैं—"तत्राभिध्यायतेः" इत्यादिसे। कोई कहे कि ईक्षण प्रमा होनेसे सत्य विषयकी अपेक्षा रखता है, इसलिए सत्य परब्रह्म ईक्षणका विषय हो, असत्य अपर ब्रह्म ध्यानका विषय क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—"स एव" इत्यादि। श्रुतियोंसे प्रत्यभिज्ञा होती है, इसलिए वह यही है, इस प्रकार सूत्रके 'सः' शब्दका व्याख्यान किया है। यहां सूत्रकी योजना ऐसी करनी चाहिए—ओंकारमें जो ध्येय है, वह परमात्मा ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें वही साक्षात्करणीय कहा गया है और यहां श्रुतियोंसे प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वह यह है। शब्दभेदसे प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'परः' और 'परात्परः' शब्दोंमें भेदका अंगीकार करके श्रुतियोंसे कही हुई प्रत्यभिज्ञाका अविरोध कहते

भाष्य

चाऽत्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात् परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात्। कस्तर्हि जीवघन इति उच्यते? घनो मूर्तिः, जीवलक्षणो घनो जीवघनः, सैन्धवखिल्यवद् यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभावः उपाधिकृतः परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः सोऽत्र जीवघन इति। अपर आह—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलो-

भाष्यका अनुवाद

प्रकृत ध्येय पर पुरुषका परामर्श नहीं होता, जिससे कि उस परसे पर—यह ईक्षणीय पुरुष भिन्न हो। तब जीवघन कौन है? कहते हैं—घन अर्थात् मूर्ति। जीवलक्षण घन जीवघन। लवणपिण्डके समान परमात्माका उपाधिसे किया हुआ जीवरूप अल्पभाव जो विषय और इन्द्रियोंसे पर है, वही यहां जीवघन कहलाता है। दूसरा कहता है—'स सामभिरु०' (वह सामद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता

रत्नप्रभा

अत्रेति। ननु एतस्मात् जीवघनात् परात् इत्येतत्पदेन उपक्रान्तध्यातव्यपरामर्शात् ईक्षणीयः परात्मा ध्येयात् अन्य इत्यत आह—न चाऽत्रेति। ध्यानस्य तत्फलेक्षणस्य च लोके समानविषयत्वाद् ध्येय एव ईक्षणीयः। एवं चोपक्रमोपसंहारयोः एकवाक्यता भवतीति भावः। "स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनाद्" [प्र० ५। ५] इत्येतत्पदेन सन्निहिततरो ब्रह्मलोकस्वामी परामृश्यते इति प्रश्नपूर्वकं व्याचष्टे—कस्तर्हीत्यादिना। "मूर्तौ घनः" [पा० सू० ३।४।७७] इति सूत्रादिति भावः। सैन्धवखिल्यः—लवणपिण्डः, खिल्यवत् अल्पो भावः परिच्छेदो यस्य सः खिल्यभावः। एतत्पदेन ब्रह्मलोको

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"अत्र" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि 'एतस्माज्जीवघनात्परात्' इसमें 'एतत्' पदसे उपक्रान्त ध्येय पदार्थका परामर्श होता है, अतः साक्षात्करणीय परमात्मा ध्येयसे भिन्न है, इसपर कहते हैं—"न चात्र" इत्यादि। आशय यह है कि ध्यान और ध्यानके फल ईक्षणका विषय लोकमें समान होता है, इसलिए जो ध्यानका विषय है वही ईक्षणका विषय है। इसी प्रकार उपक्रम और उपसंहारकी एकवाक्यता होती है। 'स सामभिः०' इसमें एतत्पदसे निकटवर्ती जीवघन, ब्रह्मलोकस्वामीका परामर्श होता है, ऐसा प्रश्नपूर्वक व्याख्यान करते हैं—"कस्तर्हि" इत्यादिसे। 'मूर्तौ घनः' इस सूत्रसे घनका अर्थ मूर्ति समझना चाहिए। सैन्धवखिल्य—लवणपिण्ड। पिण्डके समान अल्पभाव—परिमाण है जिसका वह खिल्यभाव कहलाता है। अथवा 'एतत्' पदसे ब्रह्मलोकका परामर्श होता है, ऐसा कहते हैं—"अपरः"

भाष्य

कम्' इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते। जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः। तस्मात् परो यः पुरुषः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाऽभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते। परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवाऽवकल्पते। परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति यस्मात् परं किंचिदन्यन्नास्ति, 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरात्। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' इति च विभज्याऽनन्तर-

भाष्यका अनुवाद

है) इस अव्यवहित पूर्ववाक्यसे निर्दिष्ट ब्रह्मलोक जो अन्य लोकोंसे पर है, वही यहां जीवघन कहलाता है। ब्रह्मलोकनिवासी सर्वेन्द्रियात्मक हिरण्यगर्भ इन्द्रियोंसे घिरे हुए सभी जीवोंका समष्टिरूप है, इसलिए ब्रह्मलोक जीवघन है। उससे पर जो परमात्मा दर्शनक्रियाका कर्म है, वही अभिध्यानक्रियाका भी कर्म है, ऐसा जाना जाता है। और 'परं पुरुषम्' (पर पुरुष) यह विशेषण परमात्माका ग्रहण करनेसे ही संगत होता है, क्योंकि पर पुरुष परमात्मा ही है, जिससे पर कुछ नहीं है, 'पुरुषान्न परं०' (पुरुषसे पर कुछ नहीं है वह परम अवधि है, वह परम गति है) ऐसी दूसरी श्रुति है। 'परं चापरं च०' (जो ओंकार है,

रत्नप्रभा

वा परामृश्यत इत्याह—अपर इति। जीवघनशब्दस्य ब्रह्मलोके लक्षणां दर्शयति—जीवानां हीति। व्यष्टिकरणाभिमानिनां जीवानां घनः संघातो यस्मिन् सर्वकरणाभिमानिनि स जीवघनः तत्स्वामिकत्वात् परम्परासम्बन्धेन लोको लक्ष्य इत्यर्थः। तस्मात् परः—सर्वलोकातीतः शुद्ध इत्यर्थः। परपुरुषशब्दस्य परमात्मनि मुख्यत्वाच्च स एव ध्येय इत्याह—परमिति। यस्मात् परं नाऽपरमस्ति किंचित्स एव मुख्यः परः, न तु पिण्डात् परः सूत्रात्मेत्यर्थः। किंच,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। जीवघनशब्दकी ब्रह्मलोकमें लक्षणा दिखलाते हैं—"जीवानां हि" इत्यादिसे। व्यष्टिरूप इन्द्रियोंके अभिमानी जीवोंके घन अर्थात् संघात सब इन्द्रियोंके अभिमानी जिस हिरण्यगर्भमें है, वह जीवघन है और ब्रह्मलोकका स्वामी होनेसे परम्परासंबन्धसे लोक लक्ष्यार्थ है। उससे पर—सब लोकोंसे अतीत अर्थात् शुद्ध। पर पुरुषशब्दका परमात्मा ही मुख्य अर्थ है, इसलिए वही ध्येय है, ऐसा कहते हैं—"परम्" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि जिससे पर दूसरा कोई न हो, वही मुख्य पर है, पिण्डसे पर जो सूत्रात्मा है, वह पर नहीं

भाष्य

मोङ्कारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन् परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। अथ यदुक्तम्—परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नं फलं युज्यत इति। अत्रोच्यते—त्रिमात्रेणोङ्कारेणाऽऽलम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतत् भविष्यतीत्यदोषः ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

वह पर और अपर ब्रह्म है) ऐसा विभाग करके ओंकारद्वारा पर पुरुषका अभिध्यान करना चाहिए, ऐसा कहती हुई श्रुति पर ब्रह्मको ही पर पुरुष कहती है। 'यथा पादोदरस्त्वचा०' (जैसे सर्प केंचुलसे विनिर्मुक्त होता है, इसी प्रकार वह पापसे छुटकारा पा जाता है), इस प्रकार पापसे विनिर्मुक्तिरूप फलका कथन यहां परमात्मा ध्येय है ऐसा सूचित करता है। परमात्माका ध्यान करनेवालेके लिए देशपरिच्छिन्न फल युक्त नहीं है, यह जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं—तीन मात्रावाले ओंकाररूप आलम्बनसे परमात्माका अभिध्यान करनेवालेको ब्रह्मलोकप्राप्ति और क्रमसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति फल मिलता है, ऐसा क्रममुक्तिमें यहां अभिप्राय है, इसलिए कोई दोष नहीं है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

परशब्देन उपक्रमे निश्चितं परं ब्रह्मैवाऽत्र वाक्यशेषे ध्यातव्यमित्याह—**परं चापरं चेति**। पापनिवृत्तिलिङ्गाच्च इत्याह—**यथेति**। पादोदरः—सर्पः। ॐकारे परब्रह्मोपासनया सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा परब्रह्म ईक्षित्वा तदेव शान्तम् अभयं परं प्राप्नोतीति अविरोधमाह—**अत्रोच्यते इति**। एवम् एकवाक्यतासमर्थनप्रकरणानुगृहीतपरपुरुषश्रुतिभ्यां परब्रह्मप्रत्यभिज्ञया ब्रह्मलोकप्राप्तिलिङ्गं बाधित्वा वाक्यं प्रणवध्येये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥ १३ ॥ (४) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। और पर शब्दसे उपक्रममें निश्चित हुआ पर ब्रह्म ही वाक्यशेषमें ध्यातव्य है, ऐसा कहते हैं—"परं चापरं च" इत्यादिसे। पापनिवृत्तिरूप लिंगसे भी वाक्यशेषमें पर ब्रह्म ही ध्यातव्य है ऐसा कहते है—"यथा" इत्यादिसे। पादोदर—सर्प। ओंकारमें पर ब्रह्मकी उपासनासे सूर्य द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर, पर ब्रह्मका दर्शन करके उसी शान्त अभय 'पर'को प्राप्त करता है, ऐसा अविरोध दिखलाते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। इस तरह जिसमें एकवाक्यताका समर्थन है, उस प्रकरणसे अनुगृहीत पर और पुरुषशब्दकी श्रुति—श्रवण द्वारा पर ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप लिंगका बाध करके वाक्यका प्रणवध्येय ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध हुआ ॥ १३ ॥

[५ दहराधिकरण सू० १४-२१]

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशशब्दतः ।
वियत्स्यादथवाऽल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥ १ ॥
बाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितेः ।
आत्मापहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परेश्वरः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' इस श्रुतिमें उक्त दहर भूताकाश है या जीव है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्ष—दहर भूताकाश हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें 'आकाश' शब्द पढ़ा गया है और आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ़ है। अथवा परिच्छिन्न जीव दहर हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें वह अल्प कहा गया है।

सिद्धान्त—बाह्य आकाशके साथ उपमा देने, द्यु, भू आदिका आधार कहने, आत्मत्व, पापराहित्य आदि धर्मोंसे एवं लोकमर्यादाका संस्थापक होनेसे दहर परमेश्वर ही है।

---

* तात्पर्य यह कि छान्दोग्य उपनिषद्के आठवें अध्यायमें श्रुति है—'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' अर्थात् इस ब्रह्मपुरमें जो छोटा-सा हृदयकमलरूप गृह है, उसमें छोटा-सा आकाश है, उसके मध्यमें जो है, उसका अन्वेषण करना चाहिए और विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए। ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान होनेसे शरीर ब्रह्मपुर कहलाता है, उसमें हृदयकमलरूप छोटा घर है, उस घरमें छोटा-सा आकाश है। उक्त आकाशमें सन्देह होता है कि वह भूताकाश है या जीव है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वह भूताकाश ही है, क्योंकि आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है। अथवा दहरशब्दसे उक्त आकाशमें अल्पताके कथनसे वह परिच्छिन्न जीव हो सकता है, ब्रह्म तो कदापि नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म ही आकाशशब्दवाच्य है क्योंकि "यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" (जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है उतना ही बड़ा भीतरका आकाश है) इस श्रुतिमें प्रसिद्ध बाह्य आकाशसे उसकी उपमा दी गई है। आकाशको ही आकाशसे उपमा दी जाय यह संभव नहीं है। परिच्छिन्न (छोटे-से) जीवको भी विशालतम आकाशसे उपमा नहीं दी जा सकती। जो यह कहते हो कि आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है, उक्त लौकिक रूढ़िका श्रुतिप्रसिद्धिसे परिहार हो जाता है। और दूसरी बात यह भी है कि "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इत्यादि श्रुतिद्वारा दहराकाश द्यु, पृथिवी आदि सकल जगत्का आधार कहा गया है, "अथैष आत्मापहतपाप्मा" इत्यादि श्रुतिसे उसमें आत्मत्व और पापराहित्य धर्म कहे गये हैं और "य आत्मा सेतुर्विधृतिः" इत्यादि श्रुतिद्वारा वह जगत्की मर्यादाको तहस-नहस न होने देनेके लिए धारणकर्ता सेतु कहा गया है। उक्त हेतुओंसे प्रतीत होता है कि दहराकाश परमात्मा ही है।

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—दहरः, उत्तरेभ्यः ।

पदार्थोक्ति—दहरः—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यादिश्रुतौ प्रतीयमानो दहराकाशः [परमात्मैव, कुतः] उत्तरेभ्यः—वाक्यशेषगतेभ्य आकाशोपमानत्वद्यावापृथिव्यधिष्ठानत्वात्मत्वापहत-पाप्मत्वादिहेतुभ्यः ।

भाषार्थ—'अथ यदिदमस्मिन्०' (इस ब्रह्मपुर—शरीरमें स्थित अल्प हृदयकमलके अन्दर जो दहराकाश है) इत्यादि श्रुतिमें प्रतीत होनेवाला दहराकाश परमात्मा ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें आकाशका उपमेय होना, द्युलोक और पृथिवीका अधिष्ठान होना, आत्मा होना और सकलपापशून्य होना आदि ब्रह्मके लिङ्ग हैं ।

भाष्य

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८।१।१)

भाष्यका अनुवाद

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे०' (इस ब्रह्मपुर—शरीरमें जो अल्प हृदयकमलरूप घर है, उसमें अल्प अन्तराकाश है, उस आकाशमें जो है उसकी खोज करनी चाहिए, उसका ही विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए) श्रुतिमें

रत्नप्रभा

दहर उत्तरेभ्यः । छान्दोग्यम् उदाहरति—**अथेति** । भूमविद्यानन्तरं दहरविद्याप्रारम्भार्थोऽथशब्दः । ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिस्थानत्वाद् ब्रह्मपुरं शरीरम् । अस्मिन् यत् प्रसिद्धं दहरम् अल्पं हृत्पद्मं तस्मिन् हृदये यद् अन्तराकाशशब्दितं ब्रह्म तद् अन्वेष्टव्यम्—विचार्य ज्ञेयम् इत्यर्थः । अत्र आकाशो जिज्ञास्यः

रत्नप्रभाका अनुवाद

छान्दोग्यवाक्यको उद्धृत करते हैं—"अथ" इत्यादिसे । अथशब्द भूमविद्याके बाद दहरविद्याके आरम्भको सूचित करता है । ब्रह्मकी अभिव्यक्तिका स्थान होनेके कारण शरीर ब्रह्मपुर है । इसमें जो प्रसिद्ध अल्प हृदयकमल है, उस हृदयमें जो अन्तराकाशनामक ब्रह्म है, उसका विचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । यहां पहले

भाष्य

इत्यादिवाक्यं समाम्नायते। तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः, स किं भूताकाशोऽथ विज्ञानात्माऽऽथवा परमात्मेति संशय्यते। कुतः संशयः? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च ब्रह्मणि प्रयुज्यमानो दृश्यते। तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्, किं वा पर इति संशयः। तथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरम्, अथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति। तत्र जीवस्य परस्य वाऽन्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः।

तत्राऽऽकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद् भूताकाश एव दहर-

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि वाक्य है। यहांपर अल्प हृदयकमलमें जो यह अल्प आकाश कहा गया है, वह क्या भूताकाश है या विज्ञानात्मा है अथवा परमात्मा है, ऐसा संशय होता है। संशय क्यों होता है? इससे कि श्रुतिमें आकाश और ब्रह्मपुर शब्द कहे गये हैं। आकाशशब्दका भूताकाश और परब्रह्ममें प्रयोग देखा जाता है। इससे संशय होता है कि दहर भूताकाश है या परब्रह्म। उसी प्रकार 'ब्रह्मपुर' में ब्रह्म जीववाचक है, उसका पुर होनेसे यह शरीर ब्रह्मपुर कहलाता है या परब्रह्मका पुर होनेसे ब्रह्मपुर है। ऐसा संशय होता है। उक्त संशय होनेपर यह संशय होता है कि जीव और परब्रह्ममेंसे कौन दहराकाश है?

रत्नप्रभा

तदन्तःस्थं वेति प्रथमं संशयः कल्प्यः। तत्र यदि आकाशः, तदा संशयद्वयम्। तत्र आकाशशब्दादेकं संशयम् उक्त्वा ब्रह्मपुरशब्दात् संशयान्तरमाह—तथा ब्रह्मपुरमितीति। अत्र—शब्दे। जीवस्य ब्रह्मणो वा पुरमिति संशयः। तत्र तस्मिन् संशये सतीति योजना। परपुरुषशब्दस्य ब्रह्मणि मुख्यत्वाद् ब्रह्म ध्येयम् इत्युक्तम्, तथेहापि आकाशपदस्य भूताकाशे रूढत्वाद् भूताकाशो ध्येय इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस संशयकी कल्पना करनी चाहिए कि दहराकाश जिज्ञास्य है या उसके भीतर रहनेवाला अन्य पदार्थ जिज्ञास्य है। यदि आकाश जिज्ञास्य हो तब दो संशय उपस्थित होते हैं। उनमें आकाशशब्दसे एक संशय कहकर ब्रह्मपुरशब्दसे दूसरा संशय कहते हैं—"तथा ब्रह्मपुरमिति" इत्यादिसे। 'यहाँ'—ब्रह्मपुरशब्दमें जीवका पुर या ब्रह्मका पुर ऐसा संशय होता है। 'तत्र'—उस संशयके होनेपर, ऐसी योजना करनी चाहिए। परपुरुषशब्द ब्रह्ममें रूढ होनेके कारण ब्रह्म ही ध्येय है, ऐसा पूर्वाधिकरणमें कहा गया है, उसी प्रकार यहां भी आकाश पद भूताकाशमें रूढ

भाष्य

शब्द इति प्राप्तम् । तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम् । 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः,' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृत-भेदस्योपमानोपमेयभावः द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितम्,

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ़ है, अतः दहरशब्द भूताकाशका ही वाचक है, ऐसा प्राप्त होता है । उसका स्थान अल्प होनेसे वह दहर कहलाता है । 'यावान् वा०' (जितना भूताकाश है, उतना ही हृदयके भीतर यह दहराकाश है) इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर भेदकी कल्पनासे भेद मानकर उपमानोपमेयभाव

रत्नप्रभा

दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तत्राकाशेत्यादिना । दहरवाक्यस्य अनन्तरप्रजापति-वाक्यस्य च सगुणे निर्गुणे च समन्वयोक्तेः श्रुत्यादिसंगतयः । पूर्वपक्षे भूता-काशाद्युपास्तिः, सिद्धान्ते सगुणब्रह्मोपास्त्या निर्गुणधीरिति फलभेदः । न च "आकाशस्तल्लिङ्गाद्" (१।१।२२) इत्यनेन अस्य पुनरुक्तता शङ्कनीया । अत्र "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" (छा० ८।१।१) इत्याकाशान्तःस्थस्याऽन्वेष्ट-व्यत्वादिलिङ्गान्वयेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे स्पष्टलिङ्गाभावात् । ननु भूता-काशस्याऽल्पत्वं कथम् ? एकस्य उपमानत्वम् उपमेयत्वं च कथम् ? "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च" (छा० ८।१।३) इत्यादिना श्रुतसर्वाश्रयत्वं च कथम् ? इत्याशङ्क्य क्रमेण परिहरति—तस्येत्यादिना । हृदयापेक्षया अल्पत्वम्, ध्यानार्थं कल्पितभेदात् सादृश्यम्, स्वत एकत्वात् सर्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, अतः भूताकाश ही ध्येय है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्राकाश" इत्यादिसे । दहरवाक्यका सगुण ब्रह्ममें और अनन्तर कथित प्रजापतिवाक्यका निर्गुण ब्रह्ममें समन्वय किया गया है, अतः इस अधिकरणकी श्रुति आदिके साथ संगतियाँ हैं । पूर्वपक्षमें भूताकाश आदिकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मकी उपासनासे निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रसे गतार्थ होनेके कारण यह सूत्र पुनरुक्त है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ 'तस्मिन् यदन्त०' (उसमें जो भीतर है, उसका अन्वेषण करना चाहिए) इस प्रकार आकाशके भीतर रहनेवालेका अन्वेष्टव्यत्व आदि लिंगोंके साथ अन्वय होनेसे दहर ब्रह्म ही है, इसमें स्पष्ट लिंग नहीं है । परन्तु भूताकाश अल्प किस प्रकार है ? 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी०' (इसमें स्वर्ग और पृथिवी दोनों अन्दर ही रहते हैं एवं अग्नि और वायु दोनों अन्दर रहते हैं) इस तरह आकाश सबका आश्रय किस प्रकार है ? ऐसी आशंका करके क्रमशः उसका परिहार करते हैं "तस्य" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि हृदयरूप आश्रयकी अपेक्षासे वह अल्प है, ध्यानके लिए भेदकी कल्पना की गई है, अतः सादृश्य है

भाष्य

अवकाशात्मनाऽऽकाशस्यैकत्वात् । अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्, ब्रह्मपुरशब्दात् । जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात् । भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम् । नहि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः सम्बन्धोऽस्ति । तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टम्, यथा राज्ञः । मनउपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थानं स्यात् । दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वादवकल्पते । आकाशोपमितत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भवि-

भाष्यका अनुवाद

है और आकाश और पृथिवी आदि उसमें स्थित हैं, क्योंकि अवकाशस्वरूप होनेसे आकाश एक है। अथवा जीव दहर है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्मपुरशब्द है। जीवका शरीर होनेसे शरीर ब्रह्मपुर कहलाता है, क्योंकि जीव उसे अपने कर्मसे प्राप्त करता है और गौणीवृत्तिसे जीव ब्रह्मशब्दवाच्य है। परब्रह्मका शरीरके साथ स्वस्वामिभावसम्बन्ध नहीं है। व्यवहारमें देखा जाता है कि नगरका स्वामी नगरके एक भागमें रहता है, जैसे राजा राजधानीके एक भाग राजगृहमें रहता है। मन जीवकी उपाधि है और मन प्रायः हृदयमें रहता है, इसलिए जीवकी ही हृदयमें स्थिति हो सकती है। दहरत्व भी उसीमें घटता

रत्नप्रभा

श्रयत्वमित्यर्थः । ननु "एष आत्मा" इत्यात्मशब्दो भूते न युक्त इत्यरुचेराह—अथवेति । भक्त्येति । चैतन्यगुणयोगेन इत्यर्थः । मुख्यं ब्रह्म गृह्यतामित्यत आह—नहीति । अस्तु पुरस्वामी जीवः, हृदयस्थाकाशस्तु ब्रह्म इत्यत आह—तत्रेति । पुरस्वामिन एव तदन्तःस्थत्वसम्भवात् न अन्यापेक्षा इत्यर्थः । व्यापिनोऽन्तःस्थत्वं कथमित्यत आह—मन इति । आकाशपदेन दहरमनुकृष्य उक्तो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

और आकाश स्वयं एक होनेसे सबका आश्रय है। परन्तु 'एष आत्मा' इसमें आत्मशब्द भूताकाशमें संगत नहीं हो सकता, इस अरुचिसे कहते हैं—"अथवा" इत्यादि। "भक्त्या"—चैतन्यरूप गुणके सबन्धसे। यदि कोई कहे कि मुख्य ब्रह्मका ग्रहण करो, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। यदि कोई शंका करे कि पुरस्वामी जीव हो, हृदयस्थ आकाश तो ब्रह्म है, इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादि। अर्थात् पुरस्वामीका पुरमें रहना संभव है, उससे अन्यकी अपेक्षा नहीं है। जीवात्मा तो व्यापक है, वह हृदयके भीतर कैसे रह सकता है, इस शङ्कापर कहते हैं—"मन" इत्यादि। आकाशपदसे दहरकी अनुवृत्ति करके कथित

भाष्य

ष्यति । न चाऽत्र दहरस्याऽऽकाशस्याऽन्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रूयते, 'तस्मिन् यदन्तः' इति परविषयत्वेनोपादानादिति ।

अत उत्तरं ब्रूमः—परमेश्वर एवाऽत्र दहराकाशो भवितुमर्हति न

भाष्यका अनुवाद

है, क्योंकि आरके अग्रसे उसकी उपमा दी गई है। आकाशके साथ उसकी उपमा तो ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे होगी। श्रुतिमें दहराकाश अन्वेषण-योग्य है और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है, ऐसा नहीं कहा गया है, किन्तु 'तस्मिन्०' (उसमें जो है) इस प्रकार आभ्यन्तर वस्तुके आधाररूपसे दहराकाशका ग्रहण किया गया है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां परमेश्वर ही दहराकाश

रत्नप्रभा

पमादिकं ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यतीत्याह—**आकाशेति** । ननु जीवस्य आकाश-पदार्थत्वम् अयुक्तमित्याशङ्क्य तर्हि भूताकाश एव दहरोऽस्तु तस्मिन् अन्तःस्थं किंचिद् ध्येयमिति पक्षान्तरमाह—**न चात्रेति** । परम्- अन्तःस्थं वस्तु, तद्विशेषण-त्वेन—आधारत्वेन दहराकाशस्य तच्छब्देन उपादानादित्यर्थः । यद्वा, अन्वेष्य-त्वादिलिङ्गाद् दहरस्य ब्रह्मत्वनिश्चयाद् "आकाशस्तल्लिङ्गाद्" (१।१।२२) इत्यनेन गतार्थत्वमिति शङ्काऽत्र निरसनीया । अन्वेष्यत्वादेः परविशेषणत्वेन ग्रहणात् दहरस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गं नास्तीत्यर्थः ।

अपहतपाप्मत्वादिलिङ्गोपेतात्मश्रुत्या केवलाकाशश्रुतिः बाध्या इति सिद्धान्त-यति—**परमेश्वर इत्यादिना** । आकाशस्य आक्षेपपूर्वकमिति सम्बन्धः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपमा आदि ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे हो सकते हैं ऐसा कहते हैं—"आकाश" इत्यादिसे परन्तु जीव आकाशशब्दका अर्थ नहीं हो सकता है, ऐसी आशङ्का करके तब भूताकाश ही दहर हो उसके अन्दर रहनेवाला कोई ध्येय है, ऐसा पक्षान्तर कहते हैं—"न चात्र" इत्यादिसे। [परविशेषणत्वेनोपादानात्-] पर अर्थात् भीतर रहनेवाला जो पदार्थ, उसके विशेषणरूपसे—आधाररूपसे दहराकाशका 'तत्' शब्दसे ग्रहण होनेके कारण। अथवा अन्वेष्यत्व आदि लिङ्गोंसे दहर ब्रह्म है, यह निश्चय होनेके कारण 'आकाश०' सूत्रसे यह सूत्र गतार्थ है यह शङ्का यहाँ निरसनीय है, अतः 'परविशेषणत्वेनोपादानात्' इसका अर्थ यह है कि अन्वेष्यत्व आदिका अन्यके विशेषणरूपसे ग्रहण होता है इससे 'दहर ब्रह्म है' इसमें कोई लिङ्ग नहीं है।

पापराहित्य आदि लिङ्गोंसे युक्त आत्मश्रुतिसे केवल आकाशश्रुतिका बाध करना योग्य है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"परमेश्वरः" इत्यादिसे। 'आकाशस्य' का 'आक्षेपपूर्वकम्' के साथ

भाष्य

भूताकाशो जीवो वा । कस्मात् ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । तथाहि—अन्वेष्टव्यतयाऽभिहितस्य दहरस्याऽऽकाशस्य 'तं चेद् ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति । 'स ब्रूयाद्यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्यादि । तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याऽऽकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन् भूताकाशत्वं दहरस्याऽऽकाशस्य निव-

भाष्यका अनुवाद

है, भूताकाश या जीव दहराकाश नहीं है, क्योंकि वाक्यशेषमें कहे गये हेतुओंसे यही प्रतीत होता है। अन्वेष्टव्यरूपसे कहे हुए दहराकाशका 'तं चेद् ब्रूयुः' (आचार्यसे शिष्य यदि कहें) ऐसा उपक्रम करके 'किं तदत्र विद्यते०' (यहां वह क्या है जो अन्वेषण करने योग्य है और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है) इस प्रकार आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं—'स ब्रूयाद्यावान् वा०' (वह कहे कि जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है, उतना ही हृदयमें यह आभ्यन्तर आकाश है, स्वर्ग और पृथिवी दोनों उसके अन्दर स्थित हैं) । इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि कमलके अल्पत्वसे जिसको अल्पत्व प्राप्त हुआ है, उस आकाशकी प्रसिद्ध आकाशके साथ उपमा देकर उसके अल्पत्वकी निवृत्ति करते हुए आचार्य दहराकाशमें

रत्नप्रभा

तम्—आचार्यं प्रति यदि ब्रूयुः हृदयमेव तावदल्पम् तत्रत्याकाशोऽल्पतरः, किं तदत्र अल्पे विद्यते, यद् विचार्य ज्ञेयम् इति, तदा स आचार्यो ब्रूयाद् आकाशस्य अल्पतानिवृत्तिम् इत्यर्थः । वाक्यस्य तात्पर्यमाह—तत्रेति । निवर्तयति आचार्य इति शेषः । ननु आकाशशब्देन रूढ्या भूताकाशस्य भानात् कथं तन्निवृत्तिः इत्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । ननु "रामरावण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्बन्ध है । यदि आचार्यसे शिष्य पूछें कि पहले तो हृदय ही छोटा है, उसमें रहनेवाला आकाश उससे भी छोटा है, उस आकाशमें कौन-सा तत्त्व है, जिसका विचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ? तब आचार्य आकाशकी अल्पताकी निवृत्ति करें अर्थात् आकाश अल्प नहीं है, ऐसा कहें । वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । 'निवर्तयति'के पहले 'आचार्यः' इतना शेष समझना चाहिये । यदि कोई कहे कि आकाशशब्दकी भूताकाशमें प्रसिद्धि है, अतः उससे भूताकाशका ही भान होता है, तो दहराकाशमें भूताकाश-

भाष्य

र्तयतीति गम्यते। यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढः, तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति।

नन्वेकस्याऽप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः सम्भवतीत्युक्तम्। नैवं सम्भवति। अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्प-

भाष्यका अनुवाद

भूताकाशत्वकी भी निवृत्ति करते हैं। यद्यपि आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ है, तो भी उसीके साथ उसकी उपमा नहीं बन सकती है, इससे दहर भूताकाश है, इस शंकाकी निवृत्ति होती है।

एक ही आकाशके बाह्य और आभ्यन्तर भेदकी कल्पनासे भेद मानकर उपमानोपमेयभाव हो सकता है, ऐसा जो पूर्वपक्षीने कहा है, वह संभव नहीं

रत्नप्रभा

योर्युद्धं रामरावणयोरिव" इत्यभेदेऽप्युपमा दृष्टा इति चेत्, न, अभेदे सादृश्यस्य अनन्वयेन युद्धस्य निरुपमत्वे तात्पर्यात् अयमनन्वयालंकार इति काव्यविदः।

पूर्वोक्तम् अनूद्य निरस्यति—**नन्वित्यादिना**। "सीताश्लिष्ट इवाऽऽभाति कोदण्डप्रभया युतः" इत्यादौ प्रभायोगसीताश्लेषरूपविशेषणभेदाद् भेदाश्रयणम् एकस्यैव श्रीरामस्य उपमानोपमेयभावसिद्ध्यर्थम् अगत्या कृतमिति अनुदाहरणं द्रष्टव्यम्। नैवमत्राऽऽश्रयणं युक्तम्, वाक्यस्य अल्पत्वनिवृत्तिपरत्वेन गतिसद्भावात्। किञ्च, हार्दाकाशस्याऽऽन्तरत्वात्यागे अल्पत्वेन व्यापकबाह्याकाशसादृश्यं न युक्तमित्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादि। परन्तु 'रामरावण०' (राम और रावणका युद्ध राम और रावणके युद्धके सदृश है) इस प्रकार अभेदमें—उपमान और उपमेयभाव देखा गया है, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अभेदमें सादृश्यका अन्वय न होनेसे युद्धकी निरुपमतामें तात्पर्य है, अतः उसे काव्यवेत्ता अनन्वय अलङ्कार कहते हैं।

पूर्वोक्त विषयका अनुवाद करके निरास करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'सीताश्लिष्ट इवा०' (धनुषकी प्रभासे युक्त राम सीतासे आलिङ्गित जैसे मालूम पड़ते हैं) इत्यादिमें प्रभायोग और सीताश्लेषरूप विशेषणोंके भेदसे एक ही श्रीराममें उपमानोपमेयभाव सिद्ध करनेके लिए अगत्या भेद माना गया है, यह उदाहरण ठीक नहीं है। इस प्रकार यहाँ भेद मानना ठीक नहीं है, क्योंकि आकाशमें अल्पत्वकी निवृत्ति करनसे वाक्य सार्थक है। और हृदयस्थ आकाशके आन्तरत्वका त्याग नहीं हो सकता, इसलिए वह अल्प है और अल्प होनेसे व्यापक

भाष्य

निकभेदाश्रयणम् । अपि च कल्पयित्वाऽपि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत ।

ननु परमेश्वरस्याऽपि 'ज्यायानाकाशात्' (श० ब्रा० १०।६।३।२) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाऽऽकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते । नैष दोषः । पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम् । उभयप्रतिपादने हि वाक्यं भिद्येत । न च कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टिते आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते । 'एष आत्मापहतपाप्मा

भाष्यका अनुवाद

है, क्योंकि काल्पनिक भेद उपायान्तरके अभावमें ही माना जाता है । और दूसरी बात यह भी है कि भेदकी कल्पना करके उपमानोपमेयभावका वर्णन करनेवालेके मतमें आभ्यन्तर आकाश परिच्छिन्न होनेसे बाह्य आकाशके बराबर नहीं हो सकेगा ।

परन्तु 'ज्यायानाकाशात्' (आकाशसे बड़ा) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे परमेश्वरका भी आकाशके परिमाणके बराबर परिमाण नहीं हो सकता है । यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य पुण्डरीकके वेष्टनसे प्राप्त हुए अल्पत्वकी केवल निवृत्तिही करता है, भूताकाशके बराबर परिमाणका प्रतिपादन नहीं करता । दोनोंके प्रतिपादनमें वाक्यभेद हो जायगा । और काल्पनिक भेदवाले पुण्डरीकसे वेष्टित आकाशके एकदेशमें स्वर्ग, पृथिवी आदिका रहना नहीं घटता । 'एष आत्मा-

रत्नप्रभा

अपि चेति । आन्तरत्वत्यागे तु अत्यन्ताभेदात् न सादृश्यमिति भावः ।

ननु हार्दाकाशस्य अल्पत्वनिवृत्तौ तावत्त्वे च तात्पर्यं किं न स्यादित्यत आह— उभयेति । अतोऽल्पत्वनिवृत्तावेव तात्पर्यमिति भावः । एवम् आकाशोपमितत्वाद् दहराकाशो न भूतमिति उक्तम् । सर्वाश्रयत्वादिलिङ्गेभ्यश्च तथेत्याह—न चेत्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य आकाशके साथ उसका सादृश्य ठीक नहीं है, ऐसा कहते है—"अपि च" इत्यादिसे हृदयस्थ आकाशके आन्तरत्वका त्याग करनेपर दोनों आकाशोंमें अत्यन्त अभेद होनेसे सादृश्य ही नहीं बन सकता, ऐसा तात्पर्य है ।

यदि कोई शङ्का करे कि हृदयस्थ आकाशके अल्पत्वकी निवृत्ति और भूताकाशके बराबर परिमाण, इन दोनोंमें वाक्यका तात्पर्य क्यों न हो ? इसपर कहते हैं—"उभये" इत्यादि । इसलिए अल्पत्वनिवृत्तिमें ही तात्पर्य है, ऐसा अर्थ है । इस प्रकार बाह्य आकाशके सदृश होनेके कारण दहराकाश भूताकाश नहीं है, ऐसा कहा गया । अब सर्वाश्रयत्व आदि लिङ्गोंसे

भाष्य

विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चाऽऽत्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे सम्भवन्ति । यद्यप्यात्मशब्दो जीवे सम्भवति तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति । नह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याऽऽराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम् । ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येतेति चेत्? यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत, तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात् सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम् । यदप्युक्तम्—ब्रह्मपुरमिति जीवेन पुरस्योपलक्षितत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्तु इति—अत्र ब्रूमः परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सत् शरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते,

भाष्यका अनुवाद

पहतपाप्मा०' (यह आत्मा है, पापसे विमुक्त, जरा, मरण और शोकसे रहित, भूख और प्याससे मुक्त, सत्यकाम और सत्य संकल्प है) इस प्रकार आत्मत्व, पापराहित्य आदि गुण भूताकाशमें नहीं रह सकते । यद्यपि आत्मशब्दका जीवमें प्रयोग हो सकता है, तो भी दूसरे कारणोंसे जीवविषयक आशंका की भी निवृत्ति हो जाती है । उपाधिसे परिच्छिन्न और आरके अग्रभावसे उपमित जीवमें पुण्डरीकके वेष्टनसे प्राप्त हुए अल्पत्वकी निवृत्ति नहीं की जा सकती । ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे जीवके सर्वगतत्व आदि धर्मोंकी विवक्षा होगी, ऐसा यदि कहो, तो ब्रह्मके साथ ऐक्य मानकर जीवके सर्वगतत्व आदि धर्मोंकी विवक्षा करनेसे यही ठीक है कि साक्षात् ब्रह्मके सर्वगतत्व आदि धर्मोंकी विवक्षा करो । 'ब्रह्मपुर'में जीवसे पुरका संबन्ध होनेसे राजाके समान पुरस्वामी जीवका ही पुरके एक भागमें रहना संभव है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—यह

रत्नप्रभा

दिना । विगता जिघत्सा—जग्धुमिच्छा यस्य सोऽयं विजिघत्सः—बुभुक्षाशून्य इत्यर्थः । प्रथमश्रुतब्रह्मशब्देन तत्सापेक्षचरमश्रुतषष्ठीविभक्त्यर्थः सम्बन्धो नेयः, न तु ब्रह्मणः पुरमिति षष्ठ्यर्थः स्वस्वामिभावो ग्राह्यः, 'निरपेक्षेण तत्सापेक्षं बाध्यम्'इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी दहराकाश[1] भूताकाश नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । 'विजिघत्सः'—जिसको खानेकी इच्छा नहीं है अर्थात् बुभुक्षाशून्य । 'ब्रह्मणः पुरम्' इसमें प्रथमश्रुत निरपेक्ष ब्रह्मशब्दके अनुसार ब्रह्मशब्दकी अपेक्षा रखनेवाली अनन्तरश्रुत षष्ठीविभक्तिका अर्थ संबन्धसामान्य लेना चाहिए न कि स्वस्वामिभावरूप विशेषसम्बन्ध, क्योंकि निरपेक्षसे सापेक्षका

(१) दहराकाश ।

भाष्य

ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन् मुख्यत्वात् । तस्याऽप्यस्ति पुरेणाऽनेन सम्बन्धः, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात् । 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५।५) 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २।५।१८) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अथवा जीवपुर एवाऽस्मिन् ब्रह्म संनिहितमुपलक्ष्यते यथा शालग्रामे विष्णुः सन्निहित इति तद्वत् । 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६)

भाष्यका अनुवाद

शरीर परब्रह्मका ही पुर होनेसे ब्रह्मपुर कहलाता है, क्योंकि ब्रह्मशब्दका परब्रह्मही मुख्य अर्थ है । उसका भी इस पुरके साथ संबन्ध है, क्योंकि उसकी उपलब्धिका यह स्थान है, कारण कि 'स एतस्माज्जीवघनात्०' (उपासक इस पर हिरण्यगर्भसे भी पर उत्कृष्ट और शरीरमें प्रविष्ट हुए परमात्माको देखता है) और 'स वा अयं०' (वह पुरुष सब शरीरोंमें वर्तमान हृदयमें रहनेके कारण पुरुष कहलाता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । जैसे शालग्राममें विष्णु संनिहित हैं, वैसे इस जीवपुरमें ही ब्रह्म संनिहित है, ऐसा उपलक्षित होता है । 'तद्यथेह कर्मचितो०' (यहां जैसे कर्मसे सम्पादित फल क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार परलोकमें पुण्यसे उपार्जित फल

रत्नप्रभा

न्यायाद् इत्याह—अत्र ब्रूम इति । शरीरस्य ब्रह्मणा तदुपलब्धिस्थानत्वरूपे सम्बन्धे मानम् आह—स इति । पूर्षु शरीरेषु, पुरि हृदये शय इति पुरुषः इत्यन्वयः । ननु ब्रह्मशब्दस्य जीवेऽपि अन्नादिना शरीरवृद्धिहेतौ मुख्यत्वात् न षष्ठ्यर्थः कथंचित् नेय इत्यत आह—अथवेति । बृंहयति देहमिति ब्रह्म—जीवः, तत्स्वामिके पुरे हृदयं ब्रह्मवेश्म भवतु, राजपुरे मैत्रसद्मवदित्यर्थः । अनन्तफल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाध होता है यह न्याय है, ऐसा कहते हैं—"अत्र ब्रूमः" इत्यादिसे । शरीर ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान है, इसलिए शरीरका ब्रह्मके साथ संबन्ध है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"स" इत्यादिसे । 'पूर्षु'—शरीरोंमें, 'पुरिशयः'—हृदयमें रहनेवाला पुरुष कहलाता है, ऐसा अन्वय है । यदि कोई कहे कि जीव भी अन्न आदिसे शरीरकी वृद्धि करता है, इसलिए ब्रह्मशब्दका मुख्य अर्थ जीव भी हो सकता है, अतः षष्ठीका अर्थ अपनी मनमानीसे नहीं करना चाहिए, इसपर कहते है—"अथवा" इत्यादि । 'बृंहयति०' जो देहकी वृद्धि करता है, वह ब्रह्म अर्थात् जीव है, वह जिस पुरका स्वामी है, उसमें हृदय ब्रह्मगृह हो सकता है, जैसे कि राजाके नगरमें मैत्रका घर होता है । अनन्त फलरूप लिङ्गसे भी दहर परमात्मा है, ऐसा

भाष्य

इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्याऽनन्तफलत्वं वदन् परमात्मत्वमस्य सूचयति। यदप्येतदुक्तम्—न दहरस्याऽऽकाशस्याऽन्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतम्, परविशेषणत्वेनोपादानात् इति। अत्र ब्रूमः—यद्याकाशो नाऽन्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात् 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपपद्येत।

भाष्यका अनुवाद

क्षीण हो जाता है) इस प्रकार कर्मोंका फल नश्वर बतलाकर 'अथ य इहात्मानं०' (जो यहां आत्माका और इन सत्य कामोंका आचार्यके उपदेशानुसार ध्यानसे अनुभव कर परलोकमें जाते हैं, उनका सब लोकोंमें स्वेच्छाविहार होता है) इस प्रकार प्रकृत दहराकाशके विज्ञानका फल अनन्त कहकर श्रुति दहर परमात्मा ही है, ऐसा सूचित करती है। दहराकाश अन्वेषण करने और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है, ऐसा श्रुतिमें नहीं कहा गया है, क्योंकि परके विशेषणरूपसे उसका ग्रहण किया गया है, ऐसा जो पीछे कहा है, उसपर कहते हैं। यदि आकाश अन्वेष्टव्यरूपसे न कहा गया होता, तो 'यावान् वा०' (जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है, उतनाही हृदयके भीतर यह दहराकाश है) इत्यादि आकाशके स्वरूपका प्रदर्शन उपयोगी न होता।

रत्नप्रभा

लिङ्गादपि दहरः परमात्मा इत्याह—तद्यथेति। अथ—कर्मफलाद् वैराग्यानन्तरम् इह—जीवद्दशायाम् आत्मानं दहरं तदाश्रितांश्च सत्यकामादिगुणान् आचार्योपदेशम् अनुविद्य—ध्यानेनाऽनुभूय ये परलोकं गच्छन्ति, तेषां सर्वलोकेषु अनन्तमैश्वर्यं स्वेच्छया संचलनादिकं भवति इत्यर्थः। दहरे उक्तलिङ्गानि अन्यथासिद्धानि तेषां तदन्तःस्थगुणत्वाद् इत्युक्तं स्मारयित्वा दूषयति—यदपीत्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"तद्यथा" इत्यादिसे। 'अथ'—कर्मफलसे वैराग्य होनेके अनन्तर, 'इह'—जीवद्दशामें आत्मा—दहरका और उसके आश्रित सत्यकाम आदि गुणोंका आचार्यके उपदेशानुसार ध्यानसे अनुभव करके जो परलोक जाते हैं, उनको सब लोकोंमें अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त होता है और वे स्वेच्छासे सर्वत्र विचरण करते हैं, ऐसा अर्थ है। अन्वेष्यत्व आदि लिङ्ग दहरमें लागू नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे दहरमें रहनेवालेके गुण हैं, ऐसा जो कहा गया है, उसका स्मरण कराकर दूषण देते हैं—"यदपि" इत्यादिसे।

भाष्य

नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते 'तं चेद् ब्रूयुर्य-दिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्वदर्शनात् । नैत-देवम् । एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात् तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत । 'अस्मिन् कामाः समाहिताः, एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादिसमा-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु यह भी अन्दर रहनेवाली वस्तुके सद्भावप्रदर्शनके लिए ही दिखलाया गया है, क्योंकि 'तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्०' (यदि शिष्य आचार्यसे पूछें कि इस ब्रह्मपुरमें जो अल्प पुण्डरीकवेश्म है, उसमें अल्प अन्तराकाश है, उसमें वह क्या है कि जो अन्वेषण करने योग्य हैं और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है) ऐसा आक्षेप करके परिहार करते समय उपक्रममें आकाशकी उपमा देकर स्वर्ग, पृथिवी आदि उसमें स्थित हैं, ऐसा दिखलाया है। नहीं, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता, तो स्वर्ग पृथिवी आदि जो अन्दर स्थित हैं, उनका अन्वेषण करना चाहिए और विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए, ऐसा अर्थ होता। ऐसी स्थितिमें वाक्यशेष संगत नहीं होगा। 'अस्मिन् कामाः०' (इसमें अभिलाषाएँ अन्तर्हित हैं) 'एष आत्मा०' (यह आत्मा पापविमुक्त है) इस

रत्नप्रभा

उत्तरत्र आकाशस्वरूपप्रतिपादनान्यथानुपपत्त्या पूर्वं तस्याऽन्वेष्यत्वादिक-मित्यत्राऽन्यथोपपत्तिं शङ्कते—नन्विति। एतद् आकाशस्वरूपमाक्षेपबीजमाका-शस्याऽल्पत्वमुपमया निरस्याऽन्तःस्थवस्तूक्तेः तदन्तःस्थमेव ध्येयमित्यर्थः। तर्हि जगदेव ध्येयं स्याद् इत्याह—नैतदेवमिति। अस्तु को दोषः, तत्राह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आगे आकाशके स्वरूपका प्रतिपादन किया है, वह आकाशको ज्ञेय कहनसे ही उपपन्न होता है अन्यथा उपपन्न नहीं होता, इस कारण पहले आकाशको अन्वेष्य कहना चाहिए, इस विषयमें उस प्रतिपादनकी अन्यथा भी उपपत्ति हो सकती है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'यह'—आकाशस्वरूप। तात्पर्य यह कि आक्षेपके कारणभूत आकाशके अल्पत्वका सादृश्य-प्रदर्शनपूर्वक निरसन करके आकाशके अन्दर रहनेवाला पदार्थ कहा गया है, अतः वह अन्तःस्थ ही ध्येय है। तब जगत् ही ध्येय होगा, ऐसा

भाष्य

धानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनाऽऽत्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान् विज्ञेयान् वाक्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाऽऽकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्यादिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते। स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति स्थितम् ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रकार प्रकृत स्वर्ग, पृथिवी आदि जिसमें स्थित हैं, उस आकाशकी अनुवृत्ति करके 'अथ य इहात्मान०' (यहां जो आत्माका और इन सत्य कामोंका आचार्यके उपदेशानुसार ध्यानसे अनुभव करके परलोकमें जाते हैं) इस प्रकार वाक्यशेष समुच्चयवाचक 'च' शब्दसे कामोंके आधार आत्माको और उसके आश्रित कामोंको विज्ञेयरूपसे दिखलाता है। इससे प्रतीत होता है कि वाक्यके उपक्रममें भी हृदयकमल जिसका अधिष्ठान है, वह दहराकाश ही अन्दर रहनेवाले पृथिवी आदिके साथ और सत्य कामोंके साथ विज्ञेयरूपसे कहा गया है। उक्त हेतुओंसे सिद्ध होता है कि दहराकाश परमेश्वर ही है ॥१४॥

रत्नप्रभा

तत्रेति। सर्वनामभ्यां दहराकाशमाकृष्यात्मत्वादिगुणानुक्त्वा गुणैस्सह तस्यैव ध्येयत्वं वाक्यशेषो ब्रूते, तद्विरोध इत्यर्थः। "तस्मिन्यदन्तः" (छा० ८।१।१) इति तत्पदेन व्यवहितमपि हृदयं योग्यतया ग्राह्यमित्याह—तस्मादिति। यद्वा, आकाशः तस्मिन् यदन्तस्तदुभयमन्वेष्टव्यमिति योजनां सूचयति—सहान्तः-स्थैरिति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"नैतदेवम्" इत्यादिसे। ऐसा हो, क्या दोष है, इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादि। तात्पर्य यह कि सर्वनामोंसे ('अस्मिन्' और 'एषः' इन सर्वनामोंसे) दहराकाशकी अनुवृत्ति करके आत्मत्व आदि गुणोंको कहकर गुणोंके साथ वही ध्येय है, ऐसा वाक्यशेष कहता है, उससे विरोध होगा। 'तस्मिन् यदन्तः' इसमें 'तद्' शब्दसे यद्यपि हृदय व्यवहित है, तो भी उसीका योग्यतासे ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। अथवा आकाश और उसके अन्दर जो है, उन दोनोंका अन्वेषण करना चाहिए, इस योजनाको सूचित करते हैं—"सहान्तःस्थैः" इत्यादिसे ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

पदच्छेद—गतिशब्दाभ्याम्, तथाहि, दृष्टम्, लिङ्गम्, च ।

पदार्थोक्ति—गतिशब्दाभ्यां—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति दहरवाक्यशेषोक्तप्रत्यहगमनब्रह्मलोकशब्दाभ्यां [प्रतीयते दहरः ब्रह्मैवेति, किञ्च] तथाहि दृष्टम्—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति दृष्टं श्रुत्यन्तरे । लिङ्गं च—प्रत्यहं हिरण्यगर्भलोकगमनासम्भवाद् ब्रह्मैव लोक इति सामानाधिकरण्यपरिग्रहे अहरहर्गमनं निषादस्थपतिन्यायश्च हेतुः ।

भाषार्थ—इमाः सर्वाः प्रजाः' (ये सब जीव इस हृदयाकाशरूप ब्रह्मलोकमें प्रतिदिन जाते हैं, परन्तु उसको जानते नहीं हैं) इस दहरवाक्यके शेषमें कथित प्रतिदिन गमन और ब्रह्मलोकशब्दसे मालूम होता है कि दहर ब्रह्म ही है । और 'सता सोम्य०' (हे शुभदर्शन ! सुषुप्तिकालमें जीव ब्रह्ममें संपन्न हो जाता है) इस प्रकार अन्य श्रुति भी जीवगम्यको ब्रह्म कहती है । 'ब्रह्मलोक' पदमें 'ब्रह्मका लोक' ऐसा षष्ठीसमास नहीं है, किन्तु 'ब्रह्म ही लोक' ऐसा सामानाधिकरण्य ही है, क्योंकि प्रतिदिन गमन श्रुतिमें प्रतिपादित है, हिरण्यगर्भके लोकमें जीव प्रतिदिन नहीं जा सकता । और निषादस्थपतिन्यायसे भी सिद्ध होता है कि 'ब्रह्मलोक' पदमें सामानाधिकरण्य है ।

भाष्य

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम् । त एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्च्यन्ते । इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद् दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहर-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यशेषगत हेतुओंसे दहर परमेश्वर ही है, ऐसा कहा गया है। अब उन्हीं हेतुओंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है । इससे भी दहर परमेश्वर ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें उक्त गति और शब्द परमेश्वरके ही प्रतिपादक हैं—

रत्नप्रभा

दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे हेत्वन्तरमाह—**गतीति** । प्रजा जीवा एतं हृदयस्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

दहराकाश ब्रह्म ही है इस विषयमें दूसरे हेतु दर्शाते हैं—"गति" इत्यादिसे । स्वापकालमें

भाष्य

हर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८।३।२) इति। तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाऽभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति। तथाह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इत्येवमादौ। लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्तमाचक्षते—'ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः' इति। तथा ब्रह्मलोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तयन् ब्रह्मतामस्य गमयति।

भाष्यका अनुवाद

'इमाः सर्वाः प्रजा०' (ये सब प्रजाएँ इस हृदयाकाशसंज्ञक ब्रह्मलोकमें सुषुप्तिकालमें प्रतिदिन जाती हैं, किन्तु उसको जानती नहीं हैं)। इसमें प्रकृत दहरका ब्रह्मलोकशब्दसे अभिधान कर उसमें प्रजाशब्दवाच्य जीवोंकी जो गति कही गई है, वह 'दहर ब्रह्म है' ऐसी प्रतीति कराती है, क्योंकि प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्थामें जीवोंका ब्रह्ममें जाना दूसरी श्रुतिमें देखा जाता है—'सता सोम्य०' (हे सोम्य! जब जीव सोता है, तब ब्रह्मके साथ एकीभूत होता है) इत्यादि। व्यवहारमें भी गाढ़ सुप्त पुरुष ब्रह्मीभूत, ब्रह्मताको प्राप्त हुआ कहा जाता है। उसी प्रकार प्रकृत दहरमें प्रयुक्त हुआ ब्रह्मलोकशब्द भी दहरमें जीव और

रत्नप्रभा

दहरं ब्रह्मस्वरूपं लोकम् अहरहः प्रत्यहं स्वापे गच्छन्त्यः तदात्मना स्थिता अप्यनृताज्ञानेनाऽऽवृताः तं न जानन्ति, अतः पुनरुत्तिष्ठन्ति इत्यर्थः। नन्वेतत्पदपरामृष्ट-दहरस्य स्वापे जीवगम्यत्वेऽपि ब्रह्मत्वे किमायातमित्याशङ्क्य तथाहि दृष्टमिति व्याचष्टे—**तथाहीति**। लोकेऽपि दृष्टमित्यर्थान्तरमाह—**लोकेऽपीति**। गतिलिङ्गं व्याख्याय शब्दं व्याचष्टे—**तथेति**। जीवभूताकाशयोः ब्रह्मलोकशब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि सब जीव हृदयकमलके अन्दर रहनेवाले दहराकाशसंज्ञक ब्रह्मरूप लोकको प्राप्त होकर तद्रूप हो जाते हैं, तो भी अनादि अविद्यारूप अन्धकारसे आवृत होनेके कारण उसको कोई नहीं जान पाते, इससे पुनः जागते हैं, यह श्रुतिका अर्थ है। 'एतं ब्रह्मलोकम्' में 'एतत्' पदसे परामृष्ट दहरमें स्वापकालमें जीव जावें, किन्तु इस कथनसे 'वह ब्रह्म है' यह कैसे सिद्ध हुआ ऐसी शङ्का करके सूत्रगत 'तथाहि दृष्टम्' का व्याख्यान करते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे। 'तथाहि दृष्टम्' का लोकमें भी देखा गया है, ऐसा दूसरा अर्थ करते हैं—"लोकेऽपि" इत्यादिसे। गतिरूप लिङ्गकी व्याख्या करके शब्दकी व्याख्या करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि जीव और भूताकाशमें

भाष्य

ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत्, गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक

भाष्यका अनुवाद

भूताकाशकी आशङ्काको निवृत्त करके 'दहर ब्रह्म है' ऐसी अवगति कराता है। परन्तु ब्रह्मलोकशब्द तो हिरण्यगर्भलोककी भी अवगति कराता है। हां, अवश्य

रत्नप्रभा

अप्रसिद्धेरिति भावः। ब्रह्मणि अपि तस्य अप्रसिद्धिं शङ्कते—नन्विति। निषाद-स्थपतिन्यायेन समाधत्ते—गमयेदिति। षष्ठे चिन्तितम् "स्थपतिर्निषादः

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मलोकशब्दका प्रयोग प्रसिद्ध न होनेके कारण जीव और भूताकाश दहर नहीं हैं। ब्रह्ममें भी ब्रह्मलोकशब्द अप्रसिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। निषादस्थपतिन्यायसे इसका समाधान करते हैं—"गमयेद्" इत्यादिसे। मीमांसादर्शनके छठे अध्यायमें इसका विचार किया गया है—'स्थपतिर्निषादः०' (स्थपति निषाद है, क्योंकि निषादशब्दकी शक्ति निषादमें

(१) वास्तुप्रकरणमें रौद्रेष्टिका विधान है, जिससे रुद्र सन्तुष्ट होकर प्रजाओंको शान्ति देता है। उसमें कहा है—'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' (निषादस्थपतिसे रौद्रेष्टि करानी चाहिए)। इस वाक्यमें संशय होता है कि निषादस्थपति कौन है? यज्ञमें अधिकृत त्रैवर्णिकोंमेंसे कोई है अथवा उनसे भिन्न निषाद है?

पूर्वपक्षी कहता है कि त्रैवर्णिकोंमेंसे अन्यतम है, क्योंकि विद्वत्ता और अग्नि होनेके कारण वह समर्थ है। अतः 'निषादस्थपति' शब्दसे 'निषादोंका स्थपति' इस षष्ठी समासद्वारा त्रैवर्णिकका ही ग्रहण करना चाहिए। स्थपति—स्वामी।

सिद्धान्ती कहते हैं कि स्थपति निषाद ही है, क्योंकि निषादशब्द निषादमें शक्त है। 'निषादों-का स्थपति' यह अर्थ तो लक्षणासे करना पड़ता है। शक्ति और लक्षणामेंसे जब शक्तिसे अर्थ उपपन्न हो रहा है तब लक्षणासे अर्थ करना ठीक नहीं है। यदि कोई कहे कि 'निषाद' शब्दका अर्थ निषाद ही है, षष्ठीका अर्थ संबन्ध है, अतः 'निषाद' पदकी लक्षणाकी आवश्यकता नहीं है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि षष्ठीका श्रवण नहीं है। यदि कोई कहे कि यहां षष्ठीका लोप हुआ है, लोपसामर्थ्यसे अर्थका ज्ञान होता है। ठीक है, अर्थका ज्ञान तो होता है, परन्तु लोपसामर्थ्यसे नहीं होता है, किन्तु 'निषाद' शब्दकी लक्षणासे होता है। और यह पहले ही कह दिया है कि लक्षणासे अर्थ करना ठीक नहीं है। समानाधिकरण समास तो बलवान् है, क्योंकि किसी पदकी लक्षणा नहीं करनी पड़ती है। 'निषादस्थपति' में जो द्वितीयाविभक्ति है, वह निषाद और स्थपति, इन दोनों पदोंसे सबन्ध रखती है। इससे निषादाभिन्न स्थपतिसे याग कराना चाहिए, यह अर्थ होता है। अतः निषाद ही स्थपति है। और रौद्रेष्टिमें दक्षिणाप्रकरणमें कहा है 'कूटं दाक्षिणा' (दक्षिणारूपमें लोहमुद्गर देना चाहिए) लोहमुद्गर निषादोंका उपकारक पदार्थ है, यह उन्हींके पास रहता है, त्रैवर्णिकोंके पास उसके रहनेकी आवश्यकता नहीं है। इससे भी सिद्ध होता है कि निषाद ही रौद्रेष्टिमें अधिकारी माना गया है। यह निषादस्थपतिन्याय कहलाता है।

भाष्य

इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत। सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति। एतदेव चाऽहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम्। नह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम् ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

करा सकता है, यदि 'ब्रह्मका लोक' इस प्रकार षष्ठीसमाससे यह शब्द व्युत्पन्न किया जाय। किन्तु 'ब्रह्मरूप जो लोक वह ब्रह्मलोक है' इस प्रकार सामानाधिकरण्यव्युत्पत्तिसे व्युत्पन्न हुआ ब्रह्मलोकशब्द परब्रह्मका ही बोध कराता है। प्रतिदिन ब्रह्मलोक गमन ही ब्रह्मलोकशब्दकी सामानाधिकरण्यव्युत्पत्ति माननेमें हेतु है। प्रतिदिन ये जीव सत्यलोकसंज्ञक कार्यब्रह्मलोकमें जाते हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

स्याच्छब्दसामर्थ्यात्" (जै० सू० ६।१।५१) रौद्रीमिष्टिं विधाय एतया निषादस्थपतिं याजयेदिति आम्नायते। तत्र निषादानां स्थपतिः स्वामी इति षष्ठीसमासेन त्रैवर्णिको ग्राह्यः, अग्निविद्यादिसामर्थ्यात्। न तु निषादश्चासौ स्थपतिरिति कर्मधारयेण निषादो ग्राह्यः, असामर्थ्यादिति प्राप्ते सिद्धान्तः—निषाद एव स्थपतिः स्यात्, निषादशब्दस्य निषादे शक्तत्वात्। तस्य अश्रुतषष्ठ्यर्थसम्बन्धलक्षकत्वकल्पनायोगात् श्रुतद्वितीयाविभक्तेः पूर्वपदसम्बन्धकल्पनायां लाघवात्, अतो निषादस्य इष्टिसामर्थ्यमात्रं कल्प्यमिति। तद्वद् ब्रह्मलोकशब्दे कर्मधारय इत्यर्थः। कर्मधारये लिङ्गं चास्तीति व्याचष्टे—**एतदेवेति**। सूत्रे चकार उक्तन्यायसमुच्चार्थः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है) इस सूत्रमें। रुद्रदेवताक इष्टि करके 'एतया निषाद०' (इससे निषादस्थपतिको यज्ञ करावे) ऐसी श्रुति है। इसमें 'निषादानां०' अर्थात् निषादोंका स्वामी ऐसा षष्ठीसमास मानकर त्रैवर्णिकका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसमें अग्नि, विद्या आदि सामर्थ्य है, परन्तु निषादरूप स्थपति-यह अर्थ नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उसमें सामर्थ्य नहीं है ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त किया है कि निषादरूप स्थपतिका ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि निषादशब्द निषादरूप अर्थमें रूढ़ है। जो षष्ठीविभक्ति अश्रुत है, उसके अर्थ-संबन्धका 'निषाद' पद लक्षक है, यह कल्पना ठीक नहीं है। जो द्वितीयाविभक्ति श्रुत है, उसका पूर्वपदके साथ संबन्ध माननेमें लाघव है। इसलिए इष्टिमें निषादके अधिकारमात्रकी कल्पना करनी ठीक है। उसी प्रकार ब्रह्मलोकशब्दमें कर्मधारय है और कर्मधारयसमास माननेमें हेतु भी है ऐसा कहते हैं—"एतदेव" इत्यादिसे। सूत्रगत चकार उक्त (निषादस्थपति) न्यायका समुच्चायक है ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—धृतेः, च, महिम्नः, अस्य, अस्मिन्, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—धृतेश्च—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' इति श्रुतायाः धृतेरपि हेतोः दहराकाशः परमात्मैव, अस्य महिम्नः—अस्य च सर्वलोकविधारणलक्षणमहिम्नः, अस्मिन्—परमात्मनि, उपलब्धेः—'एष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः' इत्यादिश्रुत्यन्तरेऽप्युपलब्धेः [अत्र धृतिः परमात्मन एव] ।

भाषार्थ—'अथ य आत्मा०' (उक्तलक्षण जो आत्मा है, वह सेतु है, सबका धारण करनेवाला है) इत्यादि श्रुतिमें उक्त धृतिरूप कारणसे भी प्रतीत होता है कि दहर परमात्मा ही है । सब लोकोंको धारण करना, यह महिमा 'एष भूतपालः०' (यह परमात्मा भूतोंका पालक है, सेतु है, सबको धारण करनेवाला है) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे भी परमात्मामें ही है, ऐसा मालूम होता है, अतः यहांपर भी धृति परमात्माकी ही है ।

भाष्य

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवाऽयं दहरः । कथम् ? 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति हि प्रकृत्याऽऽकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन् सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चाऽऽत्मशब्दं प्रयुज्याऽपहतपाप्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य

भाष्यका अनुवाद

धृतिरूप हेतुसे भी दहर परमेश्वर ही है, क्योंकि 'दहरोऽस्मिन्न०' (इसमें दहर अन्तराकाश है) इस तरह आरम्भ करके आकाशके साथ सादृश्य दिखाकर, उसमें सब वस्तुएँ प्रतिष्ठित हैं, यह कहकर, उसीमें आत्मशब्दका प्रयोग करके,

रत्नप्रभा

सर्वजगद्धारणलिङ्गाच्च दहरः पर इत्याह—**धृतेरिति** । ननु अथशब्दाद् दहरप्रकरणं विच्छिद्य श्रुता धृतिर्न दहरलिङ्गमिति शङ्कते—**कथमिति** । य आत्मेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

सर्वजगत्‌धारणकर्तृत्वरूप लिङ्गसे भी दहर परमात्मा ही है, ऐसा कहते हैं—"धृतेः" इत्यादिसे । परन्तु श्रुतिमें 'अथ' शब्दसे सूचित दहरप्रकरणकी समाप्तिके बाद जो धृति कही गई है, वह 'दहर परमात्मा है' इस विषयमें लिङ्ग नहीं हो सकती है, ऐसी शङ्का करते हैं—"कथम्" से । 'य आत्मा' इस प्रकार प्रकृतकी ही अनुवृत्ति की गई है, इसलिए 'अथ' शब्द

भाष्य

तमेवाऽनतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' (छा० ८।४।१) इति। तत्र विधृतिरित्यात्मशब्द-सामानाधिकरण्याद् विधारयिता उच्यते, क्तिचः कर्तरि स्मरणात्। यथोदकसन्तानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसम्पदामसम्भेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसम्भेदायाऽसंकरायेति। एवमिह प्रकृते दहरे विधरणलक्षणं महि-

भाष्यका अनुवाद

पापराहित्य आदि गुणोंका संबन्ध दिखाकर प्रकरण समाप्त होनेके पहले उसीका अथ य आत्मा०' (जो आत्मा है, वह सेतु है, इन लोकोंकी मर्यादाका साङ्कर्य न हो, इसलिए सबका विधारक है) इस प्रकार श्रुति निर्देश करती है। उसीमें विधृतिशब्दका आत्मशब्दके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे 'विधारण करनेवाला' ऐसा अर्थ है, क्योंकि 'क्तिच्' प्रत्ययका कर्ताके अर्थमें विधान है। जैसे उदकसन्तान[1]का विधारण करनेवाला सेतु लोकमें क्षेत्रसंपत्तिका मिश्रण न होनेके लिए है, उसी प्रकार यह आत्मा अध्यात्म आदि भेदसे भिन्न लोकोंका और वर्ण, आश्रम आदिका विधारण करनेवाला सेतु असम्भेदके लिए—सङ्कर न होनेके लिए है। इस प्रकार यहां प्रकृत दहरमें विधारणरूप महिमा श्रुति दिखलाती है

रत्नप्रभा

प्रकृतापकर्षादथशब्दो दहरस्य धृतिगुणविधिप्रारम्भार्थ इत्याह—दहरोऽस्मिन्नित्यादिना। श्रुतौ विधृतिशब्दः कर्तृवाचित्वात् क्तिजन्तः। सूत्रे तु महिमशब्दसामानाधिकरण्याद् धृतिशब्दः क्तिन्नन्तो विधारणं ब्रूते। "स्त्रियां क्तिन्" (पा०सू०३।३।९४) इति भावे क्तिनो विधानादिति विभागः। सेतुः असङ्करहेतुः, विधृतिस्तु स्थितिहेतुरित्यपौनरुक्त्यमाह—यथोदकेति। सूत्रं योजयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

दहरमें धृतिरूप गुणविधानका प्रारम्भवाचक है, ऐसा कहते हैं—"दहरोऽस्मिन्" इत्यादिसे। श्रुतिमें 'विधृति' शब्द कर्तृवाचक है, इसलिए 'क्तिच्' प्रत्ययान्त है। सूत्रमें तो 'महिम' शब्दके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे 'धृति' शब्द 'क्तिन्' प्रत्ययान्त है और विधारण-वाचक है, क्योंकि 'स्त्रियां क्तिन्' इससे भावमें 'क्तिन्' प्रत्ययका विधान है। सेतु असङ्करका कारण अर्थात् मिश्रण न हो, उसमें कारण है और विधृति स्थितिका हेतु है, इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं है,

(१) जलका अविच्छिन्न प्रवाह।

भाष्य

मानं दर्शयति। अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते, 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः। तथाऽन्यत्राऽपि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते-'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' इति। एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवाऽयं दहरः॥ १६॥

भाष्यका अनुवाद

और यह महिमा 'एतस्य वा अक्षरस्य०' (हे गार्गि! इसी अक्षरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा हैं, उनका यही विधारक है) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे परमेश्वरमें ही उपलब्ध होती है। इसी प्रकार दूसरे स्थलपर 'एष सर्वेश्वर एष०' (यही सर्वेश्वर है, भूतोंका पालक है, सेतु है, इन लोकोंकी मर्यादाका संकर न हो, इसलिए विधारक है) इत्यादि असन्दिग्ध परमेश्वरवाक्यमें सुना जाता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि धृतिरूप हेतुसे दहर परमेश्वर ही है॥ १६॥

रत्नप्रभा

एवमिहेति। धृतेश्च दहरः परः अस्य धृतिरूपस्य नियमनस्य च महिम्नः अस्मिन् परमात्मन्येव श्रुत्यन्तरे उपलब्धेरिति सूत्रार्थः। धृतेश्चेति चकारात् सेतुपदोक्त-नियामकत्वलिङ्गं ग्राह्यम्। तत्र नियमने श्रुत्यन्तरोपलब्धिमाह-**इतरेति**। धृतौ तामाह—**तथेति**॥ १६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"यथोदक" इत्यादिसे। सूत्रकी योजना करते हैं—"एवमिह" इत्यादिसे। धृतिसे दहर परमात्मा है, क्योंकि यह धृतिरूप नियमन जो महिमा है उसकी इस परमात्मामें ही दूसरी श्रुतिमें उपलब्धि है ऐसा सूत्रार्थ है। 'धृतेश्च' में चकारसे सेतुपदसे उक्त नियाम-कत्वरूप लिङ्गका भी ग्रहण करना चाहिए। इस नियमनके लिए दूसरी श्रुति है, ऐसा कहते हैं-"एतस्य" इत्यादिसे। धृतिमें अन्य श्रुति कहते हैं-"तथा" इत्यादिसे॥१६॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

पदच्छेद—प्रसिद्धेः, च ।

पदार्थोक्ति—प्रसिद्धेः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादि-श्रुतौ आकाशशब्दस्य परमात्मन्येव प्रसिद्धेः, च—अपि [दहराकाशः परमात्मैव] ।

भाषार्थ—'आकाशो वै०' (प्रसिद्ध आकाश ही नाम और रूपका निर्माण करनेवाला है) इत्यादि श्रुतिमें आकाशशब्द परमात्मामें ही रूढ़ है, इससे भी प्रतीत होता है, कि दहराकाश परमात्मा ही है ।

भाष्य

इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते । यत्कारण-माकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः । आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्व-हिता' (छा० ८।१४।१), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्प-द्यन्ते' (छा० १।९।१) इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । जीवे तु न क्वचिदाकाश-शब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते । भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धा-वुपमानोपमेयभावाद्यसम्भवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

वक्ष्यमाण हेतुसे भी 'दहरोऽस्मि०' इस वाक्यमें परमेश्वर ही कहा गया है, क्योंकि 'आकाशो वै नाम०' (श्रुतियोंमें आकाशनामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्माण करनेवाला है) 'सर्वाणि ह वा०' (ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इत्यादि प्रयोगोंको देखनेसे मालूम होता है कि आकाशशब्द परमेश्वरका वाचक है । जीवके लिए तो आकाशशब्दका प्रयोग किसी स्थलपर भी देखनेमें नहीं आता । यद्यपि भूताकाशमें आकाशशब्दकी प्रसिद्धि है, तो भी उपमानोपमेयभाव आदिके असामञ्जस्यसे उसका ग्रहण करना उचित नहीं है, ऐसा पीछे (१४ वें सूत्रमें) कहा गया है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

प्रसिद्धेश्च । आ समन्तात् काशते दीप्यत इति स्वयंज्योतिषि ब्रह्मण्या-काशशब्दस्य विभुत्वगुणतो वा प्रसिद्धिः प्रयोगप्राचुर्यम् ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चारों ओर जो प्रकाशित होता है, वह आकाश है, इस व्युत्पत्तिसे अथवा विभुत्वगुणसे स्वयंज्योति ब्रह्ममें आकाशशब्दकी प्रसिद्धि—प्रयोगबाहुल्य है ॥ १७ ॥

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—इतरपरामर्शात्, सः, इति, चेत्, न, असम्भवात्।

पदार्थोक्ति—इतरपरामर्शात्—'एष सम्प्रसादः' इति सम्प्रसादशब्देन अस्मिन् प्रकरणे इतरस्य—जीवस्य परामर्शात्, सः—जीवः [दहराकाशः] इति चेत्, न, असम्भवात्—आकाशोपमेयत्वापहतपाप्मत्वादिधर्माणां जीवेऽसम्भवात्।

भाषार्थ—'एष सम्प्रसादः' इस प्रकार इस प्रकरणमें सम्प्रसादशब्दसे जीवका परामर्श होता है, इसलिए जीव दहराकाश है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशका उपमेय होना, पापरहित होना आदि धर्म जीवमें सम्भव नहीं हैं।

—o—

भाष्य

यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येताऽस्ति हीतरस्याऽपि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ८।३।४) इति। अत्र हि सम्प्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्ता-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यशेषके बलसे यदि यह स्वीकार किया जाय कि दहरशब्दसे परमेश्वरका ग्रहण है तो 'अथ य एष सम्प्रसादो०' (जो यह जीव इस शरीरसे उठकर पर ज्योति प्राप्त करके अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है, वह आत्मा है, ऐसा प्रजापतिने कहा है) इस वाक्यशेषमें दूसरेका अर्थात् जीवका भी परामर्श होता है।

रत्नप्रभा

यदि "एष आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८।१।५) इत्यादिवाक्यशेषबलेन दहरः परः, तर्हि जीवोऽपीत्याशङ्क्य निषेधति—इतरेति। जीवस्याऽपि वाक्यशेषमाह—अथेति। दहरोक्त्यनन्तरं मुक्तोपसृप्यं शुद्धं ब्रह्म उच्यते। य एष सम्प्रसादः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

'एष आत्मा०' (यह आत्मा है, पापविमुक्त है) इत्यादि वाक्यशेषके बलसे यदि दहर परमात्मा है, तो जीव भी है, ऐसी आशङ्का करके निषेध करते हैं—"इतर" इत्यादिसे। जीवके प्रतिपादक वाक्यशेषको दिखलाते हैं—"अथ" इत्यादिसे। दहरके कथनके अनन्तर मुक्तोंसे गम्य शुद्ध ब्रह्म कहा गया है। जो यह सम्प्रसाद—जीव है, वह इस

भाष्य

वस्थायां दृष्टत्वात् तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुम्, नार्थान्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात् समुत्थानं सम्भवति। यथाऽऽकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात् समुत्थानं तद्वत्। यथा चाऽदृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात्

भाष्यका अनुवाद

दूसरी श्रुतिमें सम्प्रसादशब्दका सुषुप्ति-अवस्थारूप अर्थमें प्रयोग है, इसलिए वह यहां उस अवस्थावाले जीवको ही जता सकता है, दूसरेको नहीं जता सकता। जैसे आकाशमें रहनेवाले वायु आदिका आकाशसे निकलना सम्भव है, उसी प्रकार शरीरमें रहनेवाले जीवका शरीरसे उठना सम्भव है। जैसे लोकव्यवहारमें आकाशशब्दका परमेश्वरमें प्रयोग न दिखाई देने पर भी 'आकाशो

रत्नप्रभा

जीवः, अस्मात्—कार्यकरणसंघातात् सम्यग् उत्थाय—आत्मानं तस्माद् विविच्य विविक्तम् आत्मानं स्वेन ब्रह्मरूपेण अभिनिष्पद्य—साक्षात्कृत्य तदेव प्रत्यक् परं ज्योतिः उपसम्पद्यते—प्राप्नोतीति व्याख्येयम्। यथा मुखं व्यादाय स्वपितीति वाक्यं सुप्त्वा मुखं व्यादत्ते इति व्याख्यायते तद्वत्। ज्योतिषोऽनात्मत्वं निरस्यति—**एष इति**। "सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा" (बृ० ४।३।४५) इति श्रुत्यन्तरम्। अवस्थावदुत्थानमपि जीवस्य लिङ्गमित्याह—**तथेति**। तदाश्रितस्य तस्मात् समुत्थाने दृष्टान्तः—**यथेति**। ननु क्वाऽपि आकाशशब्दो जीवे न दृष्ट इत्याशङ्क्य उक्तावस्थोत्थानलिङ्गबलात् कल्प्य इत्याह—**यथा चेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

देहेन्द्रिय समूहसे समुत्थान करके—उससे आत्माका विवेक करके विविक्त आत्माका स्वरूपसे—ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करके उसी प्रत्यक् पर ज्योतिको प्राप्त करता है, ऐसी श्रुतिकी व्याख्या समझनी चाहिए। जैसे 'मुखं व्यादाय०' इस वाक्यका अर्थ—'सोकर मुख खोलता है'—किया जाता है, वैसे ही 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य०' का अर्थ—अपने रूपका साक्षात्कार करके पर ज्योति प्राप्त करता है—करना चाहिए। ज्योति अनात्मा है, इस शङ्काका निरसन करते हैं—"एष" इत्यादिसे। 'सम्प्रसादे रत्वा०' (सुषुप्त्यवस्थामें रमणकर, चलकर) इत्यादि दूसरी श्रुति है। सम्प्रसाद अवस्था जैसे जीवका लिङ्ग है, वैसे उत्थान भी जीवका लिङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। जो जिसके आश्रित रहता है, वह उससे उठता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—"यथा" इत्यादिसे। परन्तु किसी भी स्थलपर आकाशशब्द जीवमें प्रयुक्त नहीं देखा गया, ऐसी आशङ्का करके ऊपर कही गई अवस्था और उत्थानरूप लिङ्गसे इस अर्थकी कल्पना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे।

भाष्य

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगत एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति । तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इत्यत्र स एव जीव उच्यत इति चेत् ।

नैतदेवं स्यात् । कस्मात् ? असम्भवात् । नहि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत । न चोपाधिधर्मानभिमन्यमानस्याऽपहतपाप्मत्वादयो धर्माः सम्भवन्ति । प्रपञ्चितं चैतत् प्रथमसूत्रे । अतिरेकाशङ्कापरिहारायाऽत्र तु पुनरुपन्यस्तम् । पठिष्यति चोपरिष्टात् 'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० १।३।२०) इति ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

वै नाम०' (श्रुतियोंमें आकाशनामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्माण करनेवाला है) इत्यादिमें परमेश्वरके धर्मका निर्देश होनेके कारण आकाशशब्द परमेश्वरवाचक माना जाता है, उसी प्रकार जीवका वाचक भी माना जा सकता है, इसलिए अन्यके अर्थात् जीवके परामर्शसे 'दहरोऽस्मि०' वाक्यमें जीव ही कहा गया है ।

यह कथन ठीक नहीं है । किससे ? असम्भवसे । क्योंकि बुद्धि आदि उपाधियोंके अभिमानी जीवको आकाशकी उपमा नहीं दी जा सकती और उपाधिगत धर्मोंके अभिमानीमें पापराहित्य आदि धर्म सम्भव नहीं हैं । इस अधिकरणके प्रथम सूत्रमें इसका विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है, यहां तो वक्ष्यमाण अधिक शङ्काके परिहारके लिए इसका पुनः उपन्यास किया है और आगे 'अन्यार्थश्च०' सूत्रमें जीवपरामर्शका प्रयोजन कहेंगे ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

नियामकाभावाद् जीवो दहरः किं न स्यादिति प्राप्ते नियामकमाह—**नैतदित्यादिना** । दहरे श्रुतधर्माणामसम्भवाद् न जीवो दहर इत्यर्थः । तर्हि पुनरुक्तिः, तत्राह—**अतिरेकेति** । उत्तराच्चेत्यधिकाशङ्कानिरासार्थमित्यर्थः । का तर्हि जीवपरामर्शस्य गतिः, तत्राह—**पठिष्यतीति** । जीवस्य स्वापस्थानभूतब्रह्मज्ञानार्थोऽयं परामर्श इति वक्ष्यते ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई नियामक ही नहीं तो दहरका अर्थ जीव क्यों न हो, ऐसा प्राप्त होनेपर नियामकका प्रतिपादन करते हैं—"नैतद्" इत्यादिसे । श्रुतिप्रतिपादित दहरके धर्मोंका जीवमें संभव न होनेसे जीव दहर नहीं है, यह अर्थ है । तब पुनरुक्ति है, इसपर कहते हैं—"अतिरेक" इत्यादि । तात्पर्य यह कि 'उत्तराच्चे०' इस सूत्रसे कही जानेवाली अधिक शङ्काका निरास करनेके लिए है । तब जीवका जो परामर्श है, उसकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—"पठिष्यति" इत्यादि । जीवके स्वापस्थानभूत ब्रह्मके ज्ञानके लिए यह परामर्श है, ऐसा कहेंगे ॥ १८ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

पदच्छेद—उत्तराद्, चेद्, आविर्भूतस्वरूपः, तु ।

पदार्थोक्ति—उत्तराद्—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्याद्युत्तरप्रजापतिवाक्याद् [जीवेऽपहतपाप्मत्वादिधर्मोक्तेः जीव एव दहराकाश इति] चेत्, तु—नैतदेवम् [यतः] आविर्भूतस्वरूपः—आविर्भूतपरमार्थस्वरूपः [जीव एव तत्र विवक्षितः, न तु जीवत्वविशिष्टः, अतः जीवो न दहरः किन्तु ब्रह्मैव] ।

भाषार्थ—'य एषोऽक्षिणि०' (यह जो आँखमें पुरुष दीखता है, वह आत्मा है) इत्यादि अग्रिम प्रजापतिवाक्यसे जीवमें अपहतपाप्मत्व आदि धर्म कहे गये हैं, अतः जीव ही दहराकाश है, ऐसा यदि कोई कहे, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस वाक्यमें परमार्थस्वरूप–ब्रह्मभूत जीव ही विवक्षित है, जीवत्वधर्मविशिष्ट जीव विवक्षित नहीं है, अतः जीव दहराकाश नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही दहराकाश है ।

---

१. वैयासिकन्यायमाला, ब्रह्मविद्याभरण आदिको देखनेसे प्रतीत होता है कि इस सूत्रसे पृथक् अधिकरण आरम्भ होता है, किन्तु भाष्य एवं रत्नप्रभाके अनुसार पृथक् अधिकरणकी प्रतीति नहीं होती । इसलिए पृथक् अधिकरण न देकर पाठकोंके अवगमनके लिए टिप्पणीरूपसे अधिकरण-सार आदिका निर्देश किया जाता है—

[उत्तराधिकरण]

यः प्रजापतिविद्यायां स किं जीवोऽथवेश्वरः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तोक्तेस्तद्वान् जीव इहोचितः ॥१॥
आत्माऽपहतपाप्मेति प्रक्रम्यान्ते स उत्तमः ।
पुमानित्युक्त ईशोऽत्र जाग्रदाद्यवबुद्धये ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्रजापतिविद्यामें उक्त पुरुष जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्ष—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ कही गई हैं, अतः उन अवस्थाओंसे युक्त जीवका ही उक्त विद्यामें प्रतिपादन है ।

सिद्धान्त—श्रुतिमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ऐसे ब्रह्मका उपक्रम करके 'स उत्तमः पुरुषः' इस प्रकार उपसंहारमें भी परमात्माका कथन है, अतः वह पुरुष परमेश्वर ही है । जाग्रत् आदि अवस्थाओंका उपदेश परमेश्वरके बोधके लिए ही है ।

भाष्य

इतरपरामर्शाद् या जीवाशङ्का जाता साऽसम्भवान्निराकृता। अथेदानीं मृतस्येवाऽमृतसेकात् पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते उत्तरस्मात् प्राजापत्याद्वाक्यात्। तत्र हि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वा-

भाष्यका अनुवाद

अन्यके परामर्शसे जो जीवकी आशङ्का उत्पन्न हुई थी, उसका परिहार जीवमें पापराहित्य आदि धर्मोंके असम्भवसे किया जा चुका है। अब अमृत छिड़कनेसे जैसे मरा हुआ जी जाता है, वैसे ही अनन्तरोक्त प्रजापतिवाक्यसे जीवकी शङ्काका पुनः उत्थान करते हैं। क्योंकि वहां 'य आत्मा०' (जो आत्मा है

रत्नप्रभा

असम्भवादिति हेतोः असिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—उत्तराच्चेदिति। निराकृताया जीवाशङ्कायाः प्रजापतिवाक्यबलात् पुनः समुत्थानं क्रियते। तत्र जीवस्यैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व सूत्रमें असम्भवरूप हेतु कहा गया है, वह असम्भवरूप हेतु असिद्ध है ऐसी शङ्का करके उसका परिहार करते हैं—"उत्तराच्चेत्" इत्यादिसे। पूर्वमें निराकृत जीवकी शङ्काका प्रजापतिवाक्यके बलसे पुनः उत्थान किया जाता है। प्रजापतिवाक्यमें पापराहित्य आदि

अर्थात् दहरविद्याके अनन्तर उक्त प्रजापति विद्यामें इन्द्र, विरोचन और प्रजापतिके संवादमें "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच" ऐसी श्रुति है। श्रुतिका अर्थ है कि यह जो आँखमें पुरुष दीखता है, वह आत्मा है, ऐसा प्रजापतिने कहा। उक्त श्रुतिमें प्रतिपादित पुरुष जीव है अथवा परमेश्वर? यह सन्देह होनेपर पूर्वपक्षी कहता है कि 'अक्षिणि पुरुषः' (आँखमें जो पुरुष है) इस प्रकार जाग्रदवस्थाका 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' (यह जो स्वप्नमें वासनामय विषयोंसे पूज्यमान विचरता है) इस प्रकार स्वप्नावस्थाका 'सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति' (जब पुरुष गाढ निद्रामें सोता है, उसकी सब इन्द्रियाँ अपना अपना व्यापार त्याग देती हैं, प्रसन्न रहता है, स्वप्नको नहीं देखता है) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थाका उपन्यास है, अतः उक्त वाक्य उन अवस्थाओंसे विशिष्ट जीवका ही प्रतिपादन करता है।

सिद्धान्ती कहता है कि यहाँ ईश्वरका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (जो आत्मा पापरहित, जराशून्य, मरणरहित है) इस प्रकार उपक्रममें परमात्मा को कहकर 'स उत्तमः पुरुषः' (वह श्रेष्ठ पुरुष है) इस प्रकार उपसंहारमें भी परमात्माका ही प्रतिपादन किया है। जाग्रद् आदि अवस्थाओंका उपन्यास तो शाखाचन्द्रन्यायसे परमात्माके बोधके लिए ही है। इसलिए अक्षिपुरुष परमात्मा ही है।

भाष्य

दिगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' (छा० ८।७।४) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा०८।९।३) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छा० ८।१०।१) इति, 'तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न वि-

भाष्यका अनुवाद

पापविमुक्त है) इस वाक्यसे पापराहित्य आदि धर्मवाला आत्मा अन्वेषणयोग्य है, विशेषरूपसे जिज्ञासायोग्य है, ऐसी प्रतिज्ञा करके 'य एषोऽक्षिणि०' (आँखमें जो यह पुरुष दीखता है, वह आत्मा है) ऐसा कहते हुए प्रजापति आँखमें रहनेवाले द्रष्टा जीवका आत्मरूपसे निर्देश करते हैं। 'एतं त्वेव ते०' (इस आत्माको ही मैं तुमसे फिर कहता हूँ) इस प्रकार उसीका बारंबार परामर्श करके 'य एष स्वप्ने०' (स्वप्नमें जो यह वासनामय विषयसे पूज्यमान विचरता है, यह आत्मा है) 'तद्यत्रैतत्सुप्तः०' (सुषुप्ति अवस्थामें पूर्वोक्त जो पुरुष गाढ़ निद्रामें सोया रहता है, जिसकी सब इन्द्रियाँ अस्त रहती हैं, कलुषता नष्ट हो गई रहती है,

---

रत्नप्रभा

अपहतपाप्मत्वादिग्रहणेन असम्भवासिद्धेरित्यर्थः। कथं तत्र जीवोक्तिः, तत्राह—**तत्रेत्यादिना**। यद्यप्युपक्रमे जीवशब्दो नास्ति, तथापि अपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानम् उपक्रम्य तस्य जाग्रदाद्यवस्थात्रयोपन्यासाद् अवस्थालिङ्गेन जीवनिश्चयात् तस्यैव ते गुणाः सम्भवन्तीति समुदायार्थः। इन्द्रं प्रजापतिः ब्रूते-**य एष इति**। प्राधान्याद् अक्षिग्रहणम् सर्वैरिन्द्रियैर्विषयदर्शनरूपजाग्रदवस्थापन्नमित्याह—**द्रष्टारमिति**। महीयमानः वासनामयैर्विषयैः पूज्यमान इति स्वप्नपर्याये, तद्यत्रेति सुषुप्तिपर्याये च जीवमेव प्रजापतिः व्याचष्टे इत्यन्वयः। यत्र काले तत्—एतत् स्वपनं

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके ही धर्म कहे गये हैं, अतः असम्भव सिद्ध नहीं होता, यह शङ्काका अर्थ है। ये धर्म जीवके किस प्रकार कहे गये हैं, इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादि। यद्यपि उपक्रममें जीवशब्द नहीं है, तो भी पापराहित्य आदि गुणोंसे युक्त आत्माका उपक्रम करके जाग्रदादि तीन अवस्थाओंका उपन्यास किया है, इसलिए अवस्थारूप लिङ्गसे जीवका निश्चय होता है, उसके ही पापराहित्य आदि गुण हो सकते हैं, यह तात्पर्य है। इन्द्रसे प्रजापति कहते हैं—"य एष०" इत्यादि। प्रधान इन्द्रिय होनेके कारण श्रुतिमें अक्षिका ग्रहण है। "द्रष्टारम्" से भाष्यकार यह दिखलाते हैं कि जिस अवस्थामें सब इन्द्रियां अपने अपने विषयका ग्रहण करती हैं, उस जाग्रदवस्थाको प्राप्त हुए जीवका श्रुतिमें कथन है। महीयमानः—वासनामय

भाष्य

जानात्येष आत्मा' इति च जीवमेवाऽवस्थान्तरगतं व्याचष्टे। तस्यैव चाऽपहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' इति। 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' (छा० ८।११।१, २) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य 'एतं त्वेव ते

भाष्यका अनुवाद

स्वप्नको नहीं जानता वह यह आत्मा है) इस प्रकार अन्य अवस्थाको प्राप्त हुए जीवका ही व्याख्यान करते हैं, 'एतदमृत०' (यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है) इस प्रकार उसीको पाप आदिसे रहित बताते हैं। 'नाह खल्वयमेवं०' (निश्चय यह सुषुप्ति अवस्थामें 'यह मैं हूँ' इस प्रकार न आत्माको जानता है और न प्राणियोंको ही जानता है) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें दोष देखकर

रत्नप्रभा

यथा स्यात्तथा सुप्तः सम्यग् अस्तो निरस्तः करणग्रामो यस्य स समस्तः, अत एव उपसंहृतकरणत्वात् तत्कृतकालुष्यहीनः—संप्रसन्नः, स्वप्नं प्रपञ्चम् अज्ञानमात्रत्वेन विलापयति, अतोऽज्ञानसत्त्वाद् मुक्ताद् विलक्षणः प्राज्ञ एषः स्वचैतन्येन कारण-शरीरसाक्षी तस्य साक्ष्यस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात् आत्मेत्यर्थः। चतुर्थपर्याये ब्रह्मोक्तेः तस्यैव अपहतपाप्मत्वादिगुणा इत्याशङ्क्य तस्याऽपि पर्यायस्य जीवपरत्वमि-त्याह—नाहेति। अहेति—निपातः खेदार्थे। खिद्यमानो हि इन्द्र उवाच न खलु सुप्तः पुमान् अयं सम्प्रति सुषुप्त्यवस्थायाम् अयं देवदत्तोऽहमिति एवम् आत्मानं जानाति, नो एव—नैव इमानि भूतानि जानाति, किन्तु विनाशमेव प्राप्तो

रत्नप्रभाका अनुवाद

विषयोंसे पूज्यमान इस प्रकार स्वप्न पर्यायमें और 'तद्यत्र' इस प्रकार सुषुप्ति पर्यायमें जीवका ही प्रजापति उपदेश करते हैं, ऐसा अन्वय है। जब पुरुष गाढ़ निद्रामें रहता है तब उसकी सब इन्द्रियाँ अपने व्यापारसे सर्वथा रहित हो जाती हैं, इन्द्रियोंके व्यापारशून्य होनेके कारण ही विषयके सम्पर्कसे होनेवाली कलुषतासे रहित--संप्रसन्न होता है और स्वप्नरूप प्रपञ्चका अज्ञान-मात्रमें लय करता है, इसलिए अज्ञान होनेके कारण मुक्तसे विलक्षण यह प्राज्ञ स्वरूपभूत चैतन्यसे कारणदेहका साक्षी है और साक्ष्यको सत्ता और स्फूर्ति देनेके कारण आत्मा कहलाता है—यह श्रुतिका अर्थ है। चतुर्थ पर्यायमें ब्रह्म कहा गया है, इसलिए उसीके पापराहित्य आदि गुण हैं, ऐसी आशङ्का करके वह पर्याय भी जीवका ही प्रतिपादन करता है, ऐसा कहते हैं—"नाह" इत्यादिसे। 'अह' खेदसूचक निपात है। खिन्न होकर इन्द्र कहता है—निश्चय सुप्त पुरुष सुषुप्ति अवस्थामें 'मैं देवदत्त हूँ' इस प्रकार अपनेको नहीं जानता इसी प्रकार इन भूतोंको भी नहीं जानता, किन्तु विनाशको ही प्राप्त होता है। मैं इसमें कुछ भोग्य

भाष्य

भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवाऽन्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य शरीरसम्बन्ध-निन्दापूर्वकम् 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात् समुत्थित-मुत्तमं पुरुषं दर्शयति। तस्मादस्ति सम्भवो जीवे पारमेश्वराणां धर्मा-णाम्। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्त इति चेत् कश्चिद् ब्रूयात्।

तं प्रति ब्रूयात्—'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्या-

भाष्यका अनुवाद

'एतं त्वेव ते भूयो०' (इसीको ही मैं तुमसे फिर कहता हूँ, इससे अन्यको नहीं) ऐसा उपक्रम करके शरीरसंबन्धकी निन्दापूर्वक 'एष सम्प्रसादो०' (यह जीव इस शरीरसे उठकर पर ज्योति प्राप्त कर अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है) इस प्रकार शरीरसे उत्थित जीव ही उत्तम पुरुषरूपसे दिखलाया गया है। इसलिए जीवमें परमेश्वरके धर्मोंका संभव है। इस कारण 'दहरो०' इससे जीव ही कहा गया है, ऐसा यदि कोई कहे।

तो उससे कहना चाहिए कि 'आविर्भूत०'। इस सूत्र में 'तु' शब्द पूर्वपक्षकी

रत्नप्रभा

भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामि इति दोषमुपलभ्य पुनः प्रजापतिम् उपससाद। तं दोषं श्रुत्वा प्रजापतिराह—**एतमिति**। एतस्मात् प्रकृतादात्मनः अन्यत्र अन्यं न व्याख्यास्यामीति उपक्रम्य "मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरम्" (छा० ८।१२।१) इति निन्दापूर्वकं जीवमेव दर्शयतीत्यर्थः। तस्मात्—प्रजापतिवाक्यात्। अतः—अस-म्भवासिद्धेः।

सिद्धान्तयति—**तं प्रतीति**। अवस्थात्रयात् शोधनेन आविर्भूतत्वम्—शोधितत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं देखता। इस प्रकार दोष जानकर इन्द्र फिर प्रजापतिके पास शिष्यरूपसे गया। उन दोषों-को सुनकर प्रजापतिने कहा—"एतम्" इत्यादि। आशय यह है कि इस प्रकृत आत्मासे अन्यका मैं व्याख्यान नहीं करता हूँ, ऐसा उपक्रम करके 'मघवन् मर्त्यं०' (हे इन्द्र! यह शरीर नश्वर है) इस तरह निन्दापूर्वक जीवको ही दिखलाते हैं। 'तस्मात्'—प्रजापतिके वाक्यसे। 'अतः'—असम्भवके सिद्ध न होनेसे।

सिद्धान्त कहते हैं—"तं प्रति" इत्यादिसे। तीनों अवस्थाओंसे शोधित होनेके कारण आविर्भूत अर्थात् वाक्यसे उत्पन्न हुई वृत्तिसे अभिव्यक्त हुआ अर्थ। ज्ञानसे जीवत्वकी

भाष्य

वृत्त्यर्थः। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याऽऽशङ्का सम्भवतीत्यर्थः। कस्मात्? यतस्तत्राऽप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते। आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः। भूतपूर्वगत्या जीववचनम्।

एतदुक्तं भवति—'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनः पुन-

भाष्यका अनुवाद

व्यावृत्तिके लिए है। अर्थात् उत्तरवाक्यसे भी यहां जीवकी आशङ्का नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें भी आविर्भूतस्वरूप जीवकी विवक्षा है। जिसका स्वरूप आविर्भूत हुआ है, वह आविर्भूतस्वरूप कहलाता है। भूतपूर्व जीवत्वकी अपेक्षासे यह कथन है।

तात्पर्य यह है कि 'य एषोऽक्षिणि' इस प्रकार आँखसे उपलक्षित द्रष्टाका निर्देश कर उदशरावब्राह्मणद्वारा शरीरसे इस जीवको अलग करके 'एतं त्वेव

रत्नप्रभा

अर्थस्य वाक्योत्थवृत्त्यभिव्यक्तत्वमित्यर्थः। तर्हि सूत्रे पुँल्लिङ्गेन जीवोक्तिः कथम्? ज्ञानेन जीवत्वस्य निवृत्तत्वादित्यत आह—**भूतपूर्वेति**। ज्ञानात् पूर्वमविद्यातत्कार्यप्रतिबिम्बितत्वरूपं जीवत्वम् अभूदिति कृत्वा ज्ञानानन्तरं ब्रह्मरूपोऽपि जीवनाम्ना उच्यते इत्यर्थः॥

विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयपर्यायचतुष्टयात्मकप्रजापतिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—**एतदिति**। जन्मनाशवत्त्वात् प्रतिबिम्बवत् बिम्बदेहो नात्मा इति ज्ञापनार्थं प्रजापतिः इन्द्रविरोचनौ प्रत्युवाच—"उदशरावे आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतम्" (छा० ८।८।१) इत्यादिब्राह्मणेन इत्याह—**उदशरावेति**। उदकपूर्णे शरावे प्रतिबिम्बितमात्मानम् देहं दृष्ट्वा स्वस्य अज्ञातं यत्तत् मह्यं वाच्यमिति उक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निवृत्ति तो हो ही गई, तब सूत्रमें पुँल्लिङ्गसे जीवका निर्देश कैसे किया गया? इसपर कहते हैं—"भूतपूर्व" इत्यादि। आशय यह है कि ज्ञान होनेसे पहले अविद्या और उसके कार्यमें प्रतिबिम्बतत्वरूप जीवत्व था, इसलिए ज्ञान होनेके बाद ब्रह्मरूप होनेपर भी वह जीव कहलाता है।

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय बोधक चार पर्यायरूप प्रजापतिके वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—'एतद्' इत्यादिसे। जन्म-मरणशील होनेके कारण प्रतिबिम्बके समान बिम्ब देह भी आत्मा नहीं है। यह समझानेके लिए प्रजापतिने 'उदशरावे' इत्यादि ब्राह्मणसे इन्द्र और विरोचनके प्रति कहा, ऐसा कहते हैं—"उदशराव" इत्यादिसे। उदकपूर्ण

भाष्य

एतमेव व्याख्येयत्वेनाऽऽकृष्य स्वप्नसुषुप्तोपन्यासक्रमेण 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे न जैवेन रूपेण। यत्परं ज्योतिरुपसम्पत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म, तच्चाऽपहतपाप्मत्वादिधर्मकम्, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपम् 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम्।

भाष्यका अनुवाद

ते०' (इसको ही तुमसे फिर कहता हूँ) इस तरह बारंबार उसीका व्याख्यायोग्यरूपसे ग्रहण करके स्वप्न और सुषुप्तिके उपन्यासके क्रमसे 'परं ज्योतिरुपसंपद्य०' इस प्रकार जीवका पारमार्थिक स्वरूप जो परब्रह्म है, उस रूपसे इस जीवका व्याख्यान करते हैं, जीवके रूपसे नहीं करते। प्राप्त करने योग्य जो परज्योति श्रुतिप्रतिपादित है, वह परब्रह्म है। वह पापशून्यत्व आदि धर्मवाला है और वह जीवका 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्रोंसे ज्ञात होनेवाला पारमार्थिक स्वरूप है, इससे भिन्न उपाधिकल्पित स्वरूप पारमार्थिक नहीं है।

रत्नप्रभा

श्रुत्यर्थः। व्युत्थाप्य—विचाल्य। अभिनिष्पद्यते इत्यत्र एतदुक्तं भवतीति सम्बन्धः। किमुक्तमित्यत आह—**यदस्येति**। जीवत्वरूपेण जीवं न व्याचष्टे लोकसिद्धत्वात्, किन्तु तमनूद्य परस्परव्यभिचारिणीभ्योऽवस्थाभ्यो विविच्य ब्रह्मस्वरूपं बोधयति। अतो यद् ब्रह्म तदेव अपहतपाप्मत्वादिधर्मकं न जीव इत्युक्तं भवति, शोधितस्य ब्रह्माभेदेन तद्धर्मोक्तेरित्यर्थः। एवमवस्थोपन्यासस्य विवेकार्थत्वात् न जीवलिङ्गत्वम्, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म इति लिङ्गोपेतश्रुतिविरोधादिति मन्तव्यम्। ननु जीवत्वब्रह्मत्वविरुद्धधर्मवतोः कथमभेदः, तत्राह—**तदेवेति**। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जीव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरावमें प्रतिबिम्बित देहको देखकर उसमें तुमको जो न जान पड़े वह मुझसे कहना, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। 'व्युत्थाप्य'—अलग कर। 'एतदुक्तं भवति' का 'अभिनिष्पद्यते इति'—यहांपर संबन्ध है। क्या कहा गया है? यह कहते हैं—"यदस्य" इत्यादिसे। प्रजापति जीवत्वरूपसे जीवका व्याख्यान नहीं करते हैं, क्योंकि वह लोकसिद्ध है, किन्तु उसका अनुवाद करके परस्पर विलक्षण अवस्थाओंसे विवेचन करके ब्रह्मस्वरूपका बोध कराते हैं, इसलिए जो ब्रह्म है, वही अपहतपाप्मत्व आदि धर्मवाला है, जीव नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। जीवका शोधित स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इसलिए पापराहित्य आदि धर्म जीवके कहे गये हैं। इस प्रकार अवस्थाओंका उपन्यास ब्रह्मस्वरूपका बोध करानेके लिए है, इसलिए वे जीवप्रतिपादक नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मलिङ्गयुक्त 'एतदमृत०'

भाष्य

यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घाताद् व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते—नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातः, नापि संसारी, किं तर्हि ? तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति। तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्याऽस्माच्छरीराद्यभिमानात् समुत्तिष्ठन् स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति। 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तदेव चाऽस्य पारमार्थिकं स्वरूपं येन शरीरात् समुत्थाय स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते।

भाष्यका अनुवाद

जब तक स्थाणुमें पुरुषबुद्धिके समान द्वैतलक्षण अविद्याकी निवृत्ति करके कूटस्थ और नित्यज्ञानस्वरूप आत्माको 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार नहीं जान लेता, तभी तक जीवका जीवत्व है। परन्तु जब देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके संघातसे अलग करके तू देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका संघात नहीं है, तू संसारी नहीं है, किन्तु जो सत्य, चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा है, वह तू है, इस प्रकार श्रुतिद्वारा बोधित होता है, तब कूटस्थ और नित्यज्ञानस्वरूप आत्माको जानकर, शरीर आदिके अभिमानको छोड़कर वही कूटस्थ और नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा हो जाता है, क्योंकि 'स यो ह वै०' (जो उस परम ब्रह्मको जानता है, वह निस्सन्देह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियां हैं। शरीरसे अलग होकर जो अपना स्वरूप प्राप्त करता है, वही उसका पारमार्थिक स्वरूप है।

रत्नप्रभा

त्वस्याऽविद्याकल्पितत्वादविरोध इति मत्वा दृष्टान्तेन अन्वयमाह—**यावदिति**। व्यतिरेकमाह—**यदेति**। अविद्यायां सत्यां जीवत्वं वाक्योत्थप्रबोधात् तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तिरित्याविद्यकं तदित्यर्थः। संसारित्वस्य कल्पितत्वे सिद्धं निगमयति—**तदेव चाऽस्येति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा। परन्तु जीवत्व और ब्रह्मत्वरूप विरुद्ध धर्मवाले दो पदार्थोंका अभेद किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"तदेव" इत्यादि। अन्वय और व्यतिरेकसे प्रतीत होता है कि जीवत्व अविद्याकल्पित है, इसलिए विरोध नहीं है, ऐसा मानकर दृष्टान्तकथनपूर्वक अन्वय कहते हैं—"यावद्" इत्यादिसे। व्यतिरेक कहते हैं—"यदा" इत्यादिसे। जब तक अविद्या रहती है तभी तक ही जीवत्व रहता है और श्रुतिवाक्योंसे ज्ञान होनेपर जब अविद्या निवृत्त हो जाती है, तब जीवत्व भी निवृत्त हो जाता है, इसलिए जीवत्व

भाष्य

कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य। सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्। तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिः स्यात्। न तु तथाऽऽत्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः संभवत्यसंसर्गित्वाद् व्योम्न इव, दृष्टविरोधाच्च। दृष्टिश्रुतिमति-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अपने ही रूपको आप ही प्राप्त करना कूटस्थ नित्यमें किस प्रकार संभव है ? अन्य द्रव्यके संसर्गसे जिनके स्वरूपका अभिभव हो गया है अर्थात् जिनका असाधारण विशेषगुण अभिव्यक्त नहीं है, उन सुवर्ण आदिकी तो खार आदिसे शोधनद्वारा अपने स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार दिनमें जिनके प्रकाशका अभिभव हो जाता है, उन नक्षत्र आदिकी, रात्रिमें अभिभव करनेवालेके अभावमें, स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है, परन्तु आत्मचैतन्यरूप नित्य ज्योतिका इस प्रकार किसीसे अभिभव नहीं हो सकता है, क्योंकि आकाशकी

रत्नप्रभा

समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [छा० ८।१२।२] इति श्रुतिं व्याख्यातुमाक्षिपति—कथं पुनरित्यादिना। कूटस्थनित्यस्य स्वं रूपम् इत्यन्वयः। मलसङ्गिनो हि क्रियया मलनाशादभिव्यक्तिः, न तु कूटस्थस्य असंगिन इत्याह—सुवर्णेति। द्रव्यान्तरम्—पार्थिवो मलः। अभिभूतेति अस्य व्याख्यानम्-अनभिव्यक्तेति। असाधारणः—भास्वरत्वादिः। अभिभावकः—सौरालोकः। जीवस्वरूपस्य अभिभवे बाधकमाह—दृष्टेति। "विज्ञानघन एव" [बृ०२।४।१२]

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्याजन्य है। जीवत्वके कल्पित सिद्ध होनेपर जो निष्कर्ष निकला उसका निगमन कहते हैं—"तदेव चाऽस्य" इत्यादिसे।

"समुत्थाय परं०" इस श्रुतिका व्याख्यान करनेके लिए आक्षेप करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। 'कूटस्थ नित्यस्य' का 'स्वं रूपं' के साथ अन्वय है। संस्कारसे मलनाश होनेपर मलिन वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है, परन्तु असंग कूटस्थ नित्य वस्तुकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होगी, ऐसा कहते हैं—"सुवर्ण" इत्यादिसे। 'अन्य द्रव्य'—पीतल आदि। 'अनभिव्यक्त' इत्यादि 'अभिभूतस्वरूपाणाम्' का व्याख्यान है। असाधारण—भास्वरत्व आदि। अभिभव करने वाला—सूर्यका तेज आदि। जीवके स्वरूपका अभिभव माननेमें बाधक कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे।

भाष्य

विज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्। तच्च शरीरादसमुत्थितस्याऽपि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते। सर्वो हि जीवः पश्यन् शृण्वन् मन्वानो विजानन् व्यवहरत्यन्यथा व्यवहारानुपपत्तेः। तच्चेच्छरीरात् समुत्थितस्य निष्पद्येत, प्राक्समुत्थानाद् दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत। अतः किमात्मकमिदं शरीरात समुत्थानम्, किमात्मिका वा स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिरिति।

भाष्यका अनुवाद

तरह वह संसर्गरहित है और प्रत्यक्षविरोध भी है। क्योंकि दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान ये जीवके स्वरूप हैं। शरीराभिमानी जीवमें भी ये सदा देखे जाते हैं, कारण कि सभी जीव देखते, सुनते, विचार करते और समझते हुए ही व्यवहार करते हैं, अन्यथा व्यवहार ही नहीं हो सकता। उक्त स्वरूप यदि शरीराभिमान छोड़नेके बाद निष्पन्न होता हो, तो समुत्थानसे पहले देखा गया व्यवहार विरुद्ध हो जायगा, इसलिए इस शरीरसे समुत्थानका स्वरूप क्या है और स्वरूपसे अभिव्यक्तिका स्वरूप क्या है ?

रत्नप्रभा

इति श्रुत्या चिन्मात्रस्तावदात्मा, तच्चैतन्यं चक्षुरादिजन्यवृत्तिव्यक्तं दृष्ट्यादिपद-वाच्यं सद् व्यवहाराङ्गं जीवस्य स्वरूपं भवतीति तस्य अभिभूतत्वे दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत। हेत्वभावाद् व्यवहारो न स्यादित्यर्थः। अज्ञस्याऽपि स्वरूपं वृत्तिषु व्यक्तम् इत्यङ्गीकार्यम्, व्यवहारदर्शनादित्याह—तच्चेति। अन्यथेत्युक्तं स्फुटयति—तच्चेदिति। स्वरूपं चेद् ज्ञानिन एव व्यज्येत ज्ञानात् पूर्वं व्यवहारोच्छित्तिरित्यर्थः। अतः—सदैव व्यक्तस्वरूपत्वाद् इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'विज्ञान०' इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि आत्मा चिन्मात्र है, वह चैतन्य चक्षु आदि जन्य वृत्तिमें व्यक्त होता है और दृष्टि आदि पदसे वाच्य होकर व्यवहारका अङ्ग एवं जीवका स्वरूप होता है, इसलिए जीवके दृष्टि आदि स्वरूपका अभिभव हो जायगा तो जो व्यवहार प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसका बाध हो जायगा। अर्थात् हेतुके अभावसे व्यवहार ही न होगा। अज्ञ पुरुषका भी स्वरूप वृत्तिमें व्यक्त होता है, यह अङ्गीकार करना चाहिए, क्योंकि उसका व्यवहार देखनेमें आता है, ऐसा कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। अन्यथा इत्यादिसे कथित विषयको ही स्पष्ट करते हैं—"तच्चेद्" इत्यादिसे। यदि ज्ञान होनेके बाद ही जीवका स्वरूप अभिव्यक्त हो तो ज्ञान होनेसे पहलेका व्यवहार उच्छिन्न हो जायगा, ऐसा अर्थ है। 'अतः'—सर्वदा जीवके व्यक्तस्वरूप होनेके कारण।

भाष्य

अत्रोच्यते—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद् रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति। प्रमाणजनितविवेकग्रहणात् तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्; तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं

भाष्यका अनुवाद

इसपर कहते हैं—जैसे शुद्ध स्फटिककी स्वच्छता और शुक्ल रूप विवेकज्ञान होनेके पूर्व रक्त, नील आदि उपाधियोंसे संसृष्ट-सा होता है, उसी प्रकार विवेकज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्व शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदनारूपी उपाधियोंसे जीवका दर्शन आदि ज्योतिःस्वरूप संसृष्ट-सा होता है। यद्यपि पूर्वमें भी स्फटिक वैसा ही था तो भी प्रमाण आदिसे उत्पन्न हुए विवेकज्ञानके अनन्तर वही स्फटिक अपने स्वच्छ और शुक्लरूपसे प्रकट हुआ कहलाता है, उसी प्रकार देह आदि उपाधियोंसे संसृष्ट जीवका भी श्रुतियोंसे उत्पन्न हुआ विवेकज्ञान ही

रत्नप्रभा

सदा वृत्तिषु व्यक्तस्य वस्तुतोऽसंगस्य आत्मन आविद्यकदेहाद्यविवेकरूपस्य मलसंगस्य सत्त्वात् तद्विवेकापेक्षया समुत्थानादिश्रुतिरित्युत्तरमाह—अत्रेति। वेदना—हर्षशोकादिः। अविविक्तमिव इति तादात्म्यस्य संगस्य कल्पितत्वमुक्तम्। तत्र कल्पितसंगे दृष्टान्तः—यथेति। श्रुतिकृतमिति। त्वंपदार्थश्रुत्या "योऽयं विज्ञान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि वस्तुतः असङ्ग आत्मा सदा चक्षु आदिजन्य वृत्तियोंमें व्यक्त है, तो भी अविद्यासे उत्पन्न देहादि-अभेदज्ञानरूप मलका संबन्ध होनेके कारण देह आदिसे आत्माके विवेककी अपेक्षासे समुत्थानश्रुति है ऐसा उत्तर कहते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। 'वेदना'—हर्ष, शोक आदि। 'अविविक्तमिव' से कहा गया है कि तादात्म्य संबन्ध कल्पित है। कल्पित संबन्धका दृष्टान्त देते है—"यथा" इत्यादिसे। "श्रुतिकृतम्"। अर्थात् 'योऽयं विज्ञान०' इत्यादि

(१) उत्तरका अभिप्राय यह है—उपनिषदोंका पूर्वापर संबन्ध देखनेसे ज्ञात होता है कि शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अप्रपंच ब्रह्म एक है, उससे भिन्न सब उसका विवर्त है जैसे कि रज्जुका विवर्त सर्प है। ब्रह्म ही अविद्याकल्पित देह, इन्द्रिय आदि उपाधियोंसे संसृष्ट-सा प्रतीत होकर जीव कहलाता है। उपाधि-संसृष्ट होनेके कारण जीवमें अपहतपाप्मत्व आदि धर्म नहीं है। वही जीव निरुपाधिक होनेपर पापराहित्य आदि धर्मोंसे युक्त होता है, क्योंकि निरुपाधिक जीव ही ब्रह्म है। निरुपाधिक होना ही उसकी स्वरूपाभिव्यक्ति है।

भाष्य

विवेकविज्ञानं शरीरात् समुत्थानम्, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवाऽऽत्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (का० १।२।२२) इति, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३।३१) इति च सशरीरत्वाशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात्। तस्माद् विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन् विवेकविज्ञानादाविर्भूत-

भाष्यका अनुवाद

शरीरसे समुत्थान है और इस विवेकज्ञानका फल—आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होना ही स्वरूपाभिव्यक्ति है। इसी प्रकार विवेक और अविवेकसे ही आत्मा अशरीर और सशरीर है, क्योंकि 'अशरीरं०' और 'शरीरस्थोऽपि०' (हे कौन्तेय! वह शरीरस्थ है तो भी वह न कुछ करता है, न किसी कर्मसे लिप्त होता है) इन श्रुति और स्मृतियोंसे सशरीरत्व और अशरीरत्वमें कोई विशेष—भेद देखनेमें नहीं आता। इसलिए विवेकज्ञानके अभावसे अनभिव्यक्त स्वरूप हो-

रत्नप्रभा

मयः प्राणेषु" (बृ० ४।४।२२) इत्याद्यया सिद्धमित्यर्थः। प्राणादिभिन्नशुद्धत्वम्पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थसाक्षात्कारः फलमित्याह---केवलेति। सशरीरत्वस्य सत्यत्वात् समुत्थानम्--उत्क्रान्तिरिति व्याख्येयम्, न विवेक इत्याशङ्क्याऽऽह----तथा विवेकेति। उक्तश्रुत्यनुसारेणेत्यर्थः। "शरीरेष्वशरीरम् अवस्थितम्" इति श्रुतेः अविवेकमात्रकल्पितं सशरीरत्वम्, अतो विवेक एव समुत्थानमित्यर्थः। ननु स्वकर्मार्जिते शरीरे भोगस्य अपरिहार्यत्वात् कथं जीवत एव स्वरूपाविर्भाव इत्यत आह---शरीरस्थोऽपीति। अशरीरवत् शरीरस्थस्याऽपि बन्धाभावस्मृतेः जीवतो मुक्तिर्युक्ता इत्यर्थः। अविरुद्धे श्रुत्यर्थे सूत्रशेषो युक्त इत्याह- तस्मादिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वंपदार्थश्रुतिसे सिद्ध। प्राणादिसे भिन्न शुद्ध त्वंपदार्थके ज्ञानका फल वाक्यार्थका साक्षात्कार है, ऐसा कहते हैं—"केवल" इत्यादिसे। सशरीरत्व सत्य है, इसलिए समुत्थानका अर्थ करना चाहिए—उत्क्रान्ति अर्थात् शरीरसे निकलना, उसका विवेक अर्थ नहीं करना चाहिए, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तथा विवेक" इत्यादिसे। 'तथा'—उक्तश्रुतिके अनुसार। 'शरीरेष्व०' (अशरीर आत्मा शरीरोंमें अवस्थित है) इस प्रकार श्रुतिमें कहे जानेके कारण सशरीरत्व केवल अविवेकसे कल्पित है, इसलिए विवेक ही समुत्थान है। परन्तु स्वकर्मसे सम्पादित देहमें दुःख आदिका भोग अनिवार्य है, इसलिए जीते जी स्वरूपका आविर्भाव किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"शरीरस्थोऽपि" इत्यादि। स्मृति अशरीरके समान शरीरस्थमें भी बन्धनाभावका प्रतिपादन करती है, इसलिए जीते जी मुक्त होनेमें कोई विरोध नहीं है। श्रुत्यर्थके अविरुद्ध सिद्ध होनेपर

भाष्य

स्वरूप इत्युच्यते । न त्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य सम्भवतः स्वरूपत्वादेव । एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः, व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात् । कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम् । यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युपदिशति। योऽक्षिणि

भाष्यका अनुवाद

कर जीव विवेकज्ञानसे अभिव्यक्तस्वरूप कहलाता है । अन्य प्रकारसे स्वरूपकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वरूप है । उसी प्रकार जीव और परमेश्वरका भेद मिथ्याज्ञानजन्य ही है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि आत्मा आकाशके समान असङ्ग है । परन्तु यह कैसे जाना जाय ? इससे

रत्नप्रभा

अन्यादृशौ सत्यावित्यर्थः । ज्ञानाज्ञानकृतौ आविर्भावतिरोभावाविति स्थिते भेदोऽप्यंशांशित्वकृतो निरस्त इत्याह—एवमिति । अंशादिशून्यत्वम् असंगत्वम् । आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजातिशून्यः, विभुत्वात् व्योमवत् इति आत्मैक्यसिद्धेः भेदो मिथ्या इत्यर्थः । प्रजापतिवाक्याच्च भेदो मिथ्या इति आकांक्षापूर्वकमाह----कुतश्चेत्यादिना । एतद्—भेदस्य सत्यत्वम्, एवम्—नास्तीति, कुत इत्यन्वयः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रशेष संगत है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । 'अन्यादृश'—सत्य । आविर्भाव और तिरोभाव ज्ञान और अज्ञानसे होते हैं यह सिद्ध होनेपर अंशत्व और अंशित्वसे कल्पित भेदका भी निरास होता है, ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। अंश आदिसे रहित होना ही आत्माका असंगत्व है । आकाशके समान विभु होनेके कारण आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजातिरहित है, इस अनुमानसे आत्माका ऐक्य सिद्ध होता है, अतः भेद मिथ्या है, ऐसा तात्पर्य है । "कुतश्च" इत्यादिसे आकांक्षापूर्वक यह कहते हैं कि प्रजापतिवाक्यसे भी भेद मिथ्या है। भेद सत्य नहीं है, ऐसा क्यों मानना चाहिए, ऐसा

(१) नैयायिकोंके मतमें नौ द्रव्य हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नवोंमें रहनेवाली जाति द्रव्यत्व कहलाती है। पृथिवी आदि प्रत्येकमें रहनेवाली पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियाँ द्रव्यत्वव्याप्यजातियाँ हैं, क्योंकि द्रव्यत्वकी अपेक्षा अल्पदेशमें रहती हैं । नैयायिक आकाश, काल, दिक्, और आत्माको विभु मानते हैं। इनमें आकाश, काल, और दिक्को एक एक ही मानते हैं, किन्तु आत्माओंको तो अनेक मानते हैं। आकाश आदि तीन अखण्ड हैं, अतः उनमें रहनेवाले आकाशत्व आदि धर्मों को जाति नहीं मानते हैं। अतः वेदान्ती नैयायिकोंके मतके अनुसार ही आत्माको द्रव्य मानकर अनुमान द्वारा उसमें द्रव्यत्वव्याप्यजातिके संभवका निराकरण करते हैं अर्थात् इस अनुमानसे आत्मा एक ही है, अनेक नहीं, ऐसा सिद्ध करते हैं ।

भाष्य

प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद् ब्रह्मणोऽन्यश्चेत् स्यात् ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात् । नाऽपि प्रतिच्छायात्माऽयमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात् । तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद् द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात् । किञ्च, अहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्या-

भाष्यका अनुवाद

कि 'य एषोऽक्षिणि०' (आँखमें यह जो पुरुष दीखता है) ऐसा उपदेश करके 'एतदमृत०' (यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है) ऐसा उपदेश किया है। आँखमें जो प्रसिद्ध द्रष्टा द्रष्टारूपसे बताया जाता है, यदि वह अमृत और अभयस्वरूप ब्रह्मसे अन्य हो, तो अमृत और अभयरूप ब्रह्मके साथ उसका सामानाधिकरण्य न होगा। उसी प्रकार आँखमें लक्षित छायात्माका भी निर्देश नहीं है, क्योंकि प्रजापति असत्यवादी हो जायँगे। इसी प्रकार 'य एष महीय०' (स्वप्नमें जो यह वासनामय विषयोंसे पूज्यमान विचरता है) इस द्वितीय पर्यायमें भी प्रथम पर्यायमें निर्दिष्ट अक्षिस्थ पुरुषरूप द्रष्टासे भिन्न द्रष्टाका निर्देश नहीं है, क्योंकि 'एतं त्वेव ते०' (इसीको मैं तुमसे फिर कहता हूँ) ऐसा उपक्रम है। और आज मैंने स्वप्नमें हाथी देखा था, किन्तु अब उसको मैं नहीं देख रहा हूँ, इस प्रकार देखे हुएका ही जागकर निषेध करता

रत्नप्रभा

छायायां ब्रह्मदृष्टिपरम् इदं वाक्यम्, न अभेदपरम् इत्यत आह—**नाऽपीति** । यस्य ज्ञानात् कृतकृत्यता सर्वकामप्राप्तिः, तम् आत्मानम् अन्विच्छाव इति प्रवृत्तयोः इन्द्रविरोचनयोः यद्यनात्मच्छायां प्रजापतिः ब्रूयात् तदा मृषावादी स्यादित्यर्थः । प्रथमवद् द्वितीयादिपर्याये व्यावृत्तासु अवस्थासु अनुस्यूतात्मा ब्रह्मत्वेनोक्त इत्याह—**तथेति** । अवस्थाभेदेऽपि अनुस्यूतौ युक्तिमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वय है। यह वाक्य तो छायामें ब्रह्मदृष्टिका उपदेश करता है, अभेदका प्रतिपादन नहीं करता, इस शङ्कापर कहते हैं—"नाऽपि" इत्यादि। जिसके ज्ञानसे कृतार्थता और सब कामनाओंकी प्राप्ति होती है, उस आत्माकी खोज करनी चाहिए, इस अभिप्रायसे प्रवृत्त हुए इन्द्र और विरोचनके प्रति यदि प्रजापति आत्माके बदले अनात्मारूप छायाका उपदेश करें, तो असत्यवादी हो जायँगे। प्रथम पर्यायके समान द्वितीय आदि पर्यायोंमें भी भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें अनुस्यूत आत्मा ब्रह्म कहा गया है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। अवस्थाभेद होनेपर

भाष्य

चष्टे । द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति–य एवाऽहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाऽहं जागरितं पश्यामि—इति । तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति न विज्ञातारं प्रतिषेधति । यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति, तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव, न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४।३।३०) इति श्रुत्यन्तरात् । तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'मघवन्

भाष्यका अनुवाद

है। द्रष्टा तो वही है, क्योंकि जिस मैंने स्वप्न देखा था, वही मैं जागरण देख रहा हूँ, ऐसी उसे प्रतीति होती है। इसी प्रकार तीसरे पर्यायमें 'नाह खल्वयमेवं०' (निस्सन्देह यह खेदका विषय है कि 'यह मैं हूँ' इस प्रकार न यह आत्माको जानता है और न इन प्राणियोंको ही जानता है) इस तरह श्रुति सुषुप्त अवस्थामें विशेष विज्ञानका अभाव दिखलाती है, विज्ञाताका प्रतिषेध नहीं करती। उसमें 'विनाशमेवा०' (वह विनाशको ही प्राप्त होता है) यह जो कहा गया है, उसका अभिप्राय विशेषविज्ञानके विनाशमें है, विज्ञाताके विनाशमें नहीं है, क्योंकि 'नहि विज्ञातुर्विज्ञाते०' (विज्ञाताकी विज्ञानशक्तिका कभी नाश नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है) यह दूसरी श्रुति है। इसी प्रकार चौथे पर्यायमें भी 'एतं त्वेव ते०' (इसीको मैं तुमसे फिर कहता हूँ,

रत्नप्रभा

किंचेति । सुषुप्तौ ज्ञातुर्व्यावृत्तिम् आशङ्क्याऽऽह—**तथा तृतीय इति** । सुषुप्तौ निर्विकल्पज्ञानरूप आत्मा अस्ति इत्यत्र बृहदारण्यकश्रुतिमाह—**नहीति** । बुद्धेः साक्षिणो नाशो नास्ति, नाशकाभावाद् इत्यर्थः । एवम् अवस्थाभिः असङ्गत्वेन उक्त आत्मैव तुरीयेऽपि ब्रह्मत्वेन उक्त इत्याह—**तथेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी अवस्थाओंमें अनुस्यूत एक ही है, इस विषयमें युक्ति दिखलाते हैं—"किञ्च" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें ज्ञाता भिन्न है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तथा तृतीय" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें निर्विकल्पकज्ञानरूप आत्मा है, इस विषयमें प्रमाणरूप बृहदारण्यक श्रुति उद्धृत करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। साक्षीकी विज्ञानशक्तिका विनाश नहीं होता, क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं है। इस प्रकार अवस्थाओं द्वारा असङ्गरूपसे वर्णित आत्माका ही चौथे पर्यायमें ब्रह्मरूपसे वर्णन किया गया है ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे।

भाष्य

मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसम्बन्धप्रत्याख्यानेन सम्प्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन्न परस्माद् ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति ।

केचित्तु परमात्मविवक्षायाम् 'एतं त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति कल्पयन्ति । तेषामेतमिति संनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत । भूयःश्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य

भाष्यका अनुवाद

इससे अन्यको नहीं) ऐसा उपक्रम करके 'मघवन् मर्त्यं०' (हे इन्द्र ! यह शरीर निश्चय मरणशील है) इत्यादिसे विस्तारपूर्वक शरीर आदि उपाधियोंके सम्बन्धका निषेध करके 'सम्प्रसाद' शब्दसे निर्दिष्ट जीवमें 'स्वेन रूपेणा०' (अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है) इससे ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति कहकर प्रजापति अमृत और अभयस्वरूप परब्रह्मसे जीव अन्य नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं ।

कई एक आचार्य तो परमात्माकी विवक्षामें 'एतं त्वेव०' इससे जीवकी अनुवृत्ति करना अनुचित समझकर वाक्यके उपक्रममें दिखाये गये पापविमुक्तत्व आदि गुणवाले इसी आत्माको मैं तुमसे बारंबार कहता हूँ, ऐसी अर्थकी कल्पना करते हैं । उनके मतमें सन्निहितका बोध करानेवाला 'एतं०' सर्वनाम दूरान्वित हो जायगा । और 'भूयः' श्रवणका बाध भी होगा, क्योंकि एक पर्यायमें

रत्नप्रभा

श्रुतेरेकदेशिव्याख्यां दूषयति—**केचित्त्विति** । जीवपरयोर्भेदाद् इति भावः । श्रुतिबाधाद् नैवमित्याह—**तेषामिति** । सन्निहितो जीव एव सर्वनामार्थ इत्यर्थः । उक्तस्य पुनरुक्तौ भूय इति युज्यते । तव तु उपक्रान्तपरमात्मनश्चतुर्थ एवोक्तेः तद्बाध इत्याह—**भूय इति** । लोकसिद्धजीवानुवादेन ब्रह्मत्वं बोध्यत इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

एकदेशी द्वारा किये गये श्रुतिके व्याख्यानको दूषित करते हैं—"केचित्तु" इत्यादिसे । जीव ईश्वर भिन्न भिन्न हैं, इसलिए जीवकी अनुवृत्ति करना उचित नहीं है, यह एकदेशीका मत है । सर्वनामश्रुतिका बाध होता है, इसलिए वह व्याख्यान ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तेषाम्" इत्यादिसे । संनिहित जीव ही सर्वनामका अर्थ है । दूसरी बात यह भी है कि जब उक्तकी ही पुनरुक्ति होती है तभी 'भूयः' पदका प्रयोग किया जाता है । तुम्हारे—एकदेशीके मतमें तो उपक्रान्त परमात्माका चतुर्थ पर्यायमें ही कथन है, अतः उसका ('भूयः' श्रुतिका) बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"भूयः" इत्यादिसे ।

भाष्य

पर्यायान्तरेणाऽनभिधीयमानत्वात्। 'एतं त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राक् चतुर्थात् पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत। तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन्।

अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिषेधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया

भाष्यका अनुवाद

जिसका कथन है, उसका दूसरे पर्यायमें कथन नहीं रहा। और 'एतं त्वेव ते' ऐसी प्रतिज्ञा करके चतुर्थ पर्यायके पूर्वतक अन्यान्य पदार्थोंका व्याख्यान करनेवाले प्रजापति प्रतारक हो जायँगे। इसलिए जैसे सर्पके बाधसे रस्सीके पारमार्थिक स्वरूपका प्रतिपादन होता है, उसी प्रकार अविद्याजन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग, द्वेष आदि दोषोंसे मलिन और अनेक अनर्थोंसे युक्त जीवके अपारमार्थिक स्वरूपका बाध करके विद्या उससे विपरीत पापराहित्य आदि गुणवाले परमेश्वरके स्वरूपका प्रतिपादन करती है।

परन्तु दूसरे वादी और हमारे पक्षके भी कुछ लोग जीवका रूप पारमार्थिक है, ऐसा मानते हैं। आत्मा एक है इस बातको न माननेवाले उन सभी वादियोंके निराकरणके लिए इस शारीरक शास्त्रका आरम्भ किया गया है। जिसमें

रत्नप्रभा

स्वमतमुपसंहरति----तस्मादिति। व्याख्यानान्तरासम्भवादित्यर्थः। विलयनं—शोधनम् विद्यया----महावाक्येन इति यावद्।

ये तु संसारं सत्यम् इच्छन्ति, तेषाम् इदं शारीरकमेव उत्तरम् इत्याह----अपरे त्वित्यादिना। शारीरकस्य अर्थं संक्षेपेण उपदिशति----एक एवेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

लोकसिद्ध जीवका अनुवाद करके उसीका ब्रह्मरूपसे बोध होता है—इस अपने मतका उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। 'तस्मात्' अर्थात् अन्य व्याख्यानोंके सम्भव न होनेसे। विलयनसे—शोधनसे। विद्यासे—महावाक्यसे।

जो संसारको सत्य मानते हैं, उनके लिए यह शारीरक ही उत्तर है ऐसा कहते हैं—"अपरे तु" इत्यादिसे। शारीरक (शास्त्र) का अर्थ संक्षेपसे दिखलाते हैं—"एक एव"

भाष्य

मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति । यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासम्भवात्' (ब्र० १।३।१८) इत्यादिना । तत्राऽयमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम् । तदात्मैकत्वप्रतिपादनपरैर्वाक्यैर्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चाऽपनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति । जीवस्य तु न पर-

भाष्यका अनुवाद

परमेश्वर एक ही है, वह कूटस्थ नित्य है, विज्ञानस्वरूप है, किन्तु ऐन्द्रजालिकके समान मायासे अनेक प्रकारका प्रतीत होता है, उससे अन्य विज्ञानरूप कोई वस्तु नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । परमेश्वरवाक्यमें जीवकी आशङ्का करके सूत्रकार 'नासम्भवात्' इत्यादिसे जो प्रतिषेध करते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि—नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप कूटस्थ नित्य, एक, असंग परमात्मामें उससे विपरीत जीवरूप, आकाशमें भूतलकी मलिनता आदिके समान, परिकल्पित है । न्यायसे युक्त आत्माका एकत्व प्रतिपादन करनेवाले और द्वैतका प्रतिषेध करनेवाले वाक्यों द्वारा उसको दूर करूँगा, इस आशयसे परमात्माका जीवसे

रत्नप्रभा

अविद्यामाययोः भेदं निरसितुं सामानाधिकरण्यम् । आवरणविक्षेपशक्तिरूपशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् सहप्रयोगः, ब्रह्मैव अविद्यया संसरति, न ततोऽन्यो जीव इति शारीरकार्थः इत्यर्थः । तर्हि सूत्रकारः किमिति भेदं ब्रूते ? तत्राऽऽह—यत्त्विति । परमात्मनोऽसंसारित्वसिद्ध्यर्थं जीवाद् भेदं द्रढयति । तस्य असंसारित्वनिश्चयाभावे तदभेदोक्तावपि जीवस्य संसारित्वानपायाद् इत्यर्थः । अधिष्ठानस्य कल्पिताद् भेदेऽपि कल्पितस्य अधिष्ठानान्न पृथक् सत्त्वमि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । अविद्या और मायामें किसीको भेदप्रतीति न हो, इसलिए दोनोंका सामानाधिकरण्य दिखलाया है । शब्दप्रवृत्तिके निमित्तभूत आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिके भेदसे दोनोंका एक साथ प्रयोग किया गया है । ब्रह्म ही अविद्यासे संसारी होता है । जीव उससे अन्य कोई वस्तु नहीं है, ऐसा शारीरक शास्त्रका प्रतिपाद्य अर्थ है । तब सूत्रकार दोनोंमें भेद कैसे दिखलाते हैं ? इसपर कहते हैं—"यत्तु" इत्यादि । परमात्मामें असंसारित्वकी सिद्धिके लिए वह जीवसे भिन्न कहा गया है । परमात्मा असंसारी है जब तक ऐसा निश्चय नहीं हो जाय, तब तक उससे जीव अभिन्न है ऐसा कहनेसे भी

भाष्य

सादन्यत्वं प्रतिपिपादयिषति किन्त्वनुवदत्येवाऽविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम्। एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते। प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० १।१।३०) इत्यादिना। वर्णितश्चाऽस्माभिर्विद्वदविद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

भेद दृढ़ करते हैं। जीवका परमात्मासे भेदप्रतिपादन करना नहीं चाहते, किन्तु अविद्यासे कल्पित लोकप्रसिद्ध जीवभेदका केवल अनुवाद करते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अनुवाद करनेसे प्रवृत्त हुई कर्मविधियाँ विरुद्ध नहीं होतीं ऐसा मानते हैं। आत्माका एकत्वरूप जो शास्त्रार्थ–शास्त्र प्रतिपाद्य है, उसका सूत्रकार 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इत्यादिसे प्रतिपादन करते हैं, हमने विद्वान् और अविद्वान्के भेदसे कर्मविधिके विरोधके परिहारका वर्णन किया है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

त्याह----जीवस्य त्विति। कल्पितभेदानुवादस्य फलमाह----एवं हीति। सूत्रेषु अभेदो नोक्त इति भ्रान्तिं निरस्यति----प्रतिपाद्यमिति। "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" (ब्र० ४।१।३) इत्यादिसूत्राणि आदिपदार्थः। ननु अद्वैतस्य शास्त्रार्थत्वे द्वैतापेक्षविधिविरोधः, तत्राऽऽह---वर्णितश्चेति। अद्वैतमजानतः कल्पितद्वैताश्रया विधयो न विदुष इति सर्वम् उपपन्नमित्यर्थः ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवका संसारित्व नहीं मिट सकता। अधिष्ठानका कल्पित पदार्थसे भेद है, तो भी कल्पितका अधिष्ठानसे पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं—"जीवस्य तु" इत्यादिसे। कल्पित भेदके अनुवादका फल कहते हैं—"एवं हि" इत्यादिसे। सूत्रोंमें अभेद नहीं कहा गया है, इस भ्रान्तिका निराकरण करते हैं—"प्रतिपाद्यम्" इत्यादिसे। आदिपदसे 'आत्मेति तूप०' इत्यादि सूत्रोंका ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई कहे कि अद्वैत ही यदि शास्त्रतात्पर्यविषय हो, तो द्वैतकी अपेक्षासे होनेवाली विधिका विरोध होगा, इसपर कहते हैं—"वर्णितश्च" इत्यादि। अद्वैतको न जाननेवालेके लिए ही कल्पित द्वैतकी अपेक्षा रखनेवाली विधियाँ हैं, विद्वान्के लिए नहीं हैं, इस प्रकार सब उपपन्न होता है ॥ १९ ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

पदच्छेद—अन्यार्थः, च, परामर्शः ।

पदार्थोक्ति—परामर्शश्च—'सम्प्रसादः' इति जीवपरामर्शस्तु, अन्यार्थः—परमात्मप्रतिपादनपरः [न जीवप्रतिपादनपरः] ।

भाषार्थ—श्रुतिमें 'सम्प्रसाद' शब्दसे जो जीवका परामर्श किया है, वह परमात्मप्रतिपादनपरक है अर्थात् परमात्माका प्रतिपादक है, जीवका प्रतिपादक नहीं है ।

भाष्य

अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष सम्प्रसादः' (छा० ८।३।४) इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपासनोपदेशो न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति । अत आह–अन्यार्थः । अयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी, किं तर्हि ?

भाष्यका अनुवाद

अब जो दहरवाक्यके शेषमें 'अथ य एष०' इत्यादिसे जीवका परामर्श दिखलाया गया है, वह—यदि दहर परमेश्वर है ऐसा मानें, तो जीवकी उपासनाका उपदेश न करने और प्रकृत दहराकाशरूप विशेषका भी उपदेश न करनेके कारण—अनर्थक हो जायगा । इसलिए कहते हैं कि जीवका परामर्श अन्यार्थ है, जीवके स्वरूपमें इसका पर्यवसान नहीं होता; किन्तु

रत्नप्रभा

एवं प्रजापतिवाक्ये जीवानुवादेन ब्रह्मण एवाऽपहतपाप्मत्वाद्युक्तेः जीवे तदसम्भवाद् न जीवो दहर इत्युक्तम्, तर्हि जीवपरामर्शस्य का गतिरित्यत आह—**अन्यार्थश्चेति** । सूत्रं व्याचष्टे—**अथेत्यादिना** । प्रकृते दहरे विशेषो गुणः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार प्रजापतिवाक्यमें जीवके अनुवादसे ब्रह्मके ही पापराहित्य आदि धर्म कहे गये हैं और जीवमें इन धर्मोंका असम्भव है, इसलिए जीव दहर नहीं है, ऐसा कहा है । तब दहरवाक्यशेषमें जो जीवपरामर्श किया गया है, उसकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—"अन्यार्थश्च" इत्यादि । प्रकृत दहरके विशेष—गुणका भी उपदेश नहीं है । दहरवाक्यशेषरूप

भाष्य

परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी । कथम् ? सम्प्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमानात् समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसम्पद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते। यदस्योपसम्पत्तव्यं परं ज्योतिः येन स्वेन रूपेणाऽयमभिनिष्पद्यते, स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुणः उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥२०॥

भाष्यका अनुवाद

परमेश्वरके स्वरूपमें पर्यवसान होता है । किस प्रकार ? 'संप्रसाद' शब्दसे उक्त जीव जाग्रदवस्थामें देह और इन्द्रियोंके पंजरका अध्यक्ष होकर, नाड़ीमें जाकर, उसकी वासनाओंसे उत्पन्न हुए स्वप्नका अनुभव करके जब थक जाता है, तब विश्राम-स्थान प्राप्त करनेकी इच्छासे दोनों तरहके[1] शरीराभिमानसे उठकर सुषुप्त अवस्थामें परज्योति आकाशशब्दसे उक्त परब्रह्मको प्राप्त कर, विशेष विज्ञानवत्त्वका परित्याग करके अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है । जो इसके प्राप्त करनेके योग्य परम ज्योति है और जिस पारमार्थिक स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है, वह आत्मा अपहतपाप्मत्व आदि गुणवाला उपास्य है; इस आशयसे कथित जीवका परामर्श परमेश्वरवादीके मतमें भी उपपन्न होता है ॥२०॥

रत्नप्रभा

तदुपदेशोऽपि नेत्यर्थः । तत्र दहरवाक्यशेषरूपं सम्प्रसादवाक्यम् आशङ्कापूर्वकं दहरब्रह्मपरत्वेन व्याचष्टे— कथमित्यादिना ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो सम्प्रसादवाक्य है, उसका "कथम्" इत्यादिसे आशंकापूर्वक व्याख्यान करते हैं कि वह वाक्य दहरब्रह्मका प्रतिपादक है ॥ २० ॥

(१) सूक्ष्मशरीराभिमान और स्थूलशरीराभिमान, इस प्रकार शरीराभिमान दो तरहका है अथवा तादात्म्याभिमान और सम्बन्धाभिमान, इस रूपसे शरीराभिमान दो तरहका है । इस अभिमानका त्याग करना ही शरीराभिमानसे उठना है ।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

पदच्छेद—अल्पश्रुतेः, इति, चेत्, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—अल्पश्रुतेः—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यल्पत्वश्रवणात् [न दहरः परमात्मा, किन्तु जीव एव] इति चेत्, तदुक्तम्—तत्–तत्र उक्तम् समाधानम् अर्भकौकस्त्वादित्यत्र [अतः दहराकाशः परमात्मैव] ।

भाषार्थ—'दहरोऽस्मि०' (इस हृदयमें अल्प अन्तराकाश है) इस वाक्यमें आकाश दहर—अल्प कहा गया है, अतः दहर परमात्मा नहीं है, किन्तु जीव ही है, ऐसा यदि कोई कहे तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इसका समाधान 'अर्भकौकस्त्वात्०' (ब्र० १।२।७) सूत्रमें कहा गया है, इस कारण दहराकाश परमात्मा ही है।

भाष्य

यदप्युक्तम्–'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याऽल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याऽल्पत्वमवकल्पत इति, तस्य परिहारो वक्तव्यः । उक्तो ह्यस्य परिहारः–परमेश्वरस्याऽऽपेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति, 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र०१।२।७) इत्यत्र । स एवेह परिहारोऽनुसन्धातव्य इति सूचयति । श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाऽऽकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस प्रकार आकाश के विषयमें श्रुतिद्वारा प्रतिपादित अल्पत्व परमेश्वरमें उपपन्न नहीं होता किन्तु आरके अग्र भागके सदृश जीवमें तो अल्पत्व उपपन्न होता है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसका परिहार 'अर्भकौकस्त्वात्तद्०' इस सूत्रमें कहा गया है कि परमेश्वरका अल्पत्व अपेक्षाकृत है, उसी परिहारका अनुसन्धान यहां भी करना चाहिए, ऐसा सूत्रकार सूचित करते हैं। और 'यावान् वा अयमाका०' (जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है, उतना ही यह आकाश हृदयमें है) यह श्रुति ही प्रसिद्ध आकाश से उपमा देकर अल्पत्वका निरास करती है ॥२१॥

रत्नप्रभा

उपास्यत्वाद् अल्पत्वम् उक्तमिति व्याख्याय श्रुत्या निरस्तमित्यर्थान्तरमाह—**श्रुत्यैव चेदमिति** । एवं दहरवाक्यं प्रजापतिवाक्यं च सगुणे निर्गुणे च समन्वितमिति सिद्धम् ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपास्य होनेके कारण दहराकाश अल्प है, ऐसा व्याख्यान करके श्रुतिने अल्पत्वका निरसन किया है, ऐसा अन्य अर्थ कहते हैं—"श्रुत्यैव चेदम्" इत्यादिसे । इस प्रकार दहरवाक्य और प्रजापतिवाक्यका क्रमशः सगुण और निर्गुणमें समन्वय सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥

[६ अनुकृत्यधिकरण सू० २२-२३]

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोऽन्तरमुतापि चित् ।
तेजोऽभिभावकत्वेन तेजोन्तरमिदं महत् ॥१॥
चित्स्यात्सूर्याद्यभास्यत्वात् तादृक् तेजोऽप्रसिद्धितः ।
सर्वस्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चान्यभासनात् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' इत्यादि श्रुतिमें प्रतिपादित जगद्भासक सूर्य आदिसे अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर तेजस्वी पदार्थ है अथवा चेतनरूप ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—सूर्य आदि तेजका अभिभावक होनेके कारण वह सूर्य आदिसे अतिरिक्त कोई विपुल तेज ही हो सकता है ।

सिद्धान्त—सूर्य आदिसे भास्य न होने, सूर्य आदिको अभिभूत करनेवाले किसी दूसरे तेजके प्रसिद्ध न होने, सबसे पहले भान होने एवं अपनी भासे अन्य सबको भासित करनेके कारण उक्त श्रुतिमें कथित जगद्भासक चैतन्यरूप ब्रह्म ही है ।

---

* निष्कर्ष यह कि मुण्डकोपनिषद्की श्रुति है कि 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' 'अर्थात् पूर्व प्रस्तुत सब ज्योतियोंकी ज्योतिके सामने सूर्य आदिका प्रकाश फीका पड़ जाता है । इतना ही नहीं किन्तु सूर्य आदि सब ज्योतियोंके भासक उस अलौकिक पदार्थके पहले भासित होने-पर ही सारा जगत् भासित होता है । जगत् अपनी प्रकाशमान दशामें अपने स्वतन्त्र प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता, बल्कि उसी सर्वभासक पदार्थकी भासे ही प्रकाशित होता है ।' यहां-पर सन्देह होता है कि उक्त वाक्यमें प्रतिपादित जगद्भासक, सूर्य आदिके समान दृष्टिगोचर होने-वाला कोई अतिरिक्त तेज है, या चैतन्यरूप ब्रह्म है ?

पूर्व पक्षी कहता है कि वह अन्य तेज ही है, क्योंकि वह सूर्य आदिके तेजको अभिभूत करनेवाला कहा गया है, सूर्यके सामने दीपकी तरह बड़े तेजके ही सामने छोटा तेज अभिभूत होता है । इससे प्रतीत होता है कि सूर्य आदिको अभिभूत करनेवाला सूर्य आदिसे अधिक कोई अतिरिक्त तेज ही है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जो पदार्थ सूर्य आदिसे अभास्य कहा गया है वह चैतन्यरूप ब्रह्म ही है, क्योंकि प्रथम तो सूर्य आदिका अभिभावक कोई विपुल तेज प्रसिद्ध ही नहीं है, दूसरे 'तमेव भान्तमनुभाति' के अनुसार सबसे पहले भासना चैतन्यरूप ब्रह्मका ही धर्म है, तीसरे प्रकाश और अप्रकाशरूप सारे जगत्का भासक होना भी चैतन्यका ही धर्म है । इससे सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्यमें चैतन्यरूप ब्रह्म ही कहा गया है ।

अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥

पदच्छेद—अनुकृतेः, तस्य, च ।

पदार्थोक्ति—अनुकृतेः—['न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' इत्यादि-मन्त्रे प्रतीयमानं वस्तु न तेजोविशेषः, किन्तु ब्रह्मैव, कुतः] सर्वपदार्थानां तत्तेजोऽनुकरणात्, तस्य च—ब्रह्मणो भासैव सर्वेषां भास्यत्वावगमात् ।

भाषार्थ—'न तत्र सूर्यो०, (न उसको सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा, नक्षत्र, बिजुली आदि ही प्रकाशित कर सकते हैं, इस अग्निकी तो कथा ही क्या है अर्थात् अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकती है । ये सब उसीके प्रकाशका अनुकरण करते हैं, उसीके प्रकाशसे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है) इत्यादि स्थलमें प्रतीयमान वस्तु कोई तेजोविशेष नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है, क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि उसके प्रकाशका ही सब अनुकरण करते हैं, और श्रुतिसे यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्मके प्रकाशसे ही सारा जगत् प्रकाशित होता है ।

—o—

भाष्य

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'

भाष्यका अनुवाद

न तत्र सूर्यो भाति०' (उस स्वात्मभूत ब्रह्मको न सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे प्रकाशित कर सकते हैं और न विजुलियां ही प्रकाशित कर सकती हैं, अग्निकी तो कथा ही क्या है ? उसी परमेश्वरके प्रकाशित होनेके अनन्तर सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है) ऐसी श्रुति है । उक्त

रत्नप्रभा

अनुकृतेस्तस्य च । मुण्डकवाक्यम् उदाहरति—**न तत्रेति** । तस्मिन् ब्रह्मणि विषये न भाति, तं न भासयति इति यावत् । यदा चण्डभास्करादिर्न भासयति, तदा अल्पदीप्तेः अग्नेः का कथा इत्याह—**कुत इति** । किञ्च, सर्वस्य सूर्यादेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न तत्र" इत्यादि मुण्डकवाक्यको उद्धृत करते हैं। सूर्य उस ब्रह्ममें नहीं प्रकाशता अर्थात् सूर्य ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकता। जब प्रचण्ड भास्कर आदि ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकते, तो जिसका प्रकाश बहुत थोड़ा है, वह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकेगी,

भाष्य

(मु०२।२।१०) इति समामनन्ति। तत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति, स किं तेजोधातुः कश्चिदुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजोधातुरिति तावत् प्राप्तम्। कुतः? तेजोधातूनामेव सूर्या-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यमें जिसके प्रकाशित होनेसे ये सब सूर्य, चन्द्र आदि चमकते हैं और जिसके प्रकाशसे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है, उसके विषयमें सन्देह होता है कि क्या वह कोई तेजस्वी पदार्थ है अथवा परमात्मा है?

पूर्वपक्षी—वह तेजस्वी पदार्थ है, क्योंकि सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थोंके ही

रत्नप्रभा

तद्भास्यत्वाद् न तद्भासकत्वमित्याह—तमेवेति। अनुगमनवद् अनुभानं स्वगत-भानकृतमिति शङ्कां निरस्यति—तस्येति। तत्रेति सप्तम्याः सति विषये च साधा-रण्यात् संशयमाह—तत्रेति। पूर्वत्र आत्मश्रुत्यादिबलाद् आकाशशब्दस्य रूढि-त्यागाद् ईश्वरे वृत्तिराश्रिता, तथा इहाऽपि सतिसप्तमीबलाद् वर्तमानार्थत्यागेन यस्मिन् सति सूर्यादयो न भास्यन्ति, स तेजोविशेष उपास्य इति भविष्यदर्थे वृत्तिराश्रयणीया। अधुना भासमाने सूर्यादौ न भातीति विरोधाद् इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तेजोधातुरिति। तेजोध्यानं निर्गुणस्वयंज्योतिरात्मज्ञानमिति उभयत्र फलम्। तेजोधातुत्वे लिङ्गमाह—तेजोधातूनामेवेति। यत्तेजसोऽभिभावकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा श्रुति कहती है—"कुतः" इत्यादिसे। और "तमेव" इत्यादिसे कहती है—सूर्य आदि सब पदार्थोंका भासक ब्रह्म है, इसलिए उसका भासक कोई नहीं है। जैसे कोई अपनी गतिसे अनुगमन करता है, उसी प्रकार स्वगत भान—प्रकाशसे अनुभान करता है, ऐसी आशङ्काको दूर करनेके लिए श्रुति कहती है—तस्य" इत्यादि। 'तत्र' यह सप्तमी सतिसप्तमी और विषयसप्तमी दोनों हो सकती है, अतः सन्देह करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणमें आत्मश्रुति आदिके बलसे रूढ़िका त्याग करके आकाशशब्द ईश्वरवाचक माना गया है, उसी प्रकार यहां भी सतिसप्तमीके बलसे वर्तमानरूप अर्थका परित्याग करके जिसकी सत्तामें सूर्य आदि प्रकाशित नहीं होंगे, वह तेजोविशेष उपासनायोग्य है, इस प्रकार भविष्यदर्थमें वृत्तिका आश्रयण करना चाहिए, क्योंकि जिस वर्तमान समयमें सूर्य आदि प्रकाशमान हैं उस समय 'नहीं भासते हैं' यह कहना विरुद्ध है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तेजोधातु" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें तेजोविशेषका ध्यान फल है और सिद्धान्तमें निर्गुण स्वयंज्योति आत्माका ज्ञान फल है। तेजोधातुको स्वीकार करनेमें हेतु देते हैं—"तेजोधातूनामेव"

भाष्य

दीनां भानप्रतिषेधात् । तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भासत इति प्रसिद्धम्, तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते, सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते। अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्, गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत्। तस्मात् तेजोधातुः कश्चित्।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवाऽयमात्मा भवितुमर्हति। कस्मात्? अनु-

भाष्यका अनुवाद

भानका प्रतिषेध किया है। दिनमें जब कि तेजस्वी सूर्य प्रकाशमान रहता है, तब तेजःस्वभाववाले चन्द्र, तारे आदि नहीं चमकते हैं, यह प्रसिद्ध है। उसी प्रकार सूर्यके साथ चन्द्र, तारे आदि ये सब जिसके सामने फीके पड़ जाते हैं, वह भी तेजःस्वभाव ही है, ऐसा समझा जाता है। अनुभान भी तभी संगत होता है, जब कि तेज जिसका स्वभाव है, ऐसा कोई पदार्थ हो, क्योंकि समान स्वभाववालेमें ही अनुकरण दिखाई देता है, जैसे कि 'जाते हुएके पीछे जाता है' इसमें स्पष्ट है। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई एक तेजस्वी पदार्थ ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वह परमात्मा ही है, क्योंकि

रत्नप्रभा

तत्तेज इति व्याप्तिमाह—तेजःस्वभावकमिति। यस्मिन् सति यन्न भाति तदनु तद् भातीति विरुद्धमित्यत आह—अनुभानमपीति। ततो निकृष्टभानं विवक्षितमिति भावः।

मुख्यसम्भवे विवक्षानुपपत्तेः मुख्यानुभानलिङ्गात् सर्वभासकः परमात्मा स्वप्रकाशकोऽत्र ग्राह्य इति सिद्धान्तमाह—प्राज्ञ इति। प्राज्ञत्वम्—स्वप्रकाशकत्वं भासक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो तेजका अभिभावक है, वह तेज है, ऐसी व्याप्ति कहते हैं—"तेजःस्वभावकम्" इत्यादिसे। जिसके रहते जो प्रकाश नहीं करता वह उस तेजःपदार्थके पीछे प्रकाश करे यह विरुद्ध है, इसपर कहते हैं—"अनुभानमपि" इत्यादि। अर्थात् उस अतितेजस्वी पदार्थके भानकी अपेक्षा निकृष्ट भान विवक्षित है।

मुख्य अनुभानका सम्भव होने पर गौण निकृष्ट भानकी विविक्षा अनुपपन्न है, इसलिए मुख्य अनुभानलिङ्गसे सर्वभासक और स्वप्रकाश परमात्मा ही यहाँ ग्राह्य है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"प्राज्ञ एव" इत्यादिसे। प्राज्ञ-स्वप्रकाशक। आत्मा स्वप्रकाशक है, यह दिखलानेके

भाष्य

कृतेः। अनुकरणमनुकृतिः। यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुभानम्, तत् प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते। 'भारूपः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ३।१४।२) इति हि प्राज्ञमात्मानमानन्ति, न तु तेजोधातुं कञ्चित् सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम्। समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षाऽस्ति यं भान्तमनुभायुः। नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति। यदप्युक्तम्—समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत—इति। नाऽयमेकान्तो नियमः, भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते, यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्य-

भाष्यका अनुवाद

अनुकृति कही गई है। अनुकृति अर्थात् अनुकरण। 'तमेव भान्त०' यह अनुभान परमात्माके ग्रहण करनेपर ही संगत हो सकता है। 'भारूपः०' (दीप्ति—चैतन्य लक्षण जिसका स्वरूप है और जिसका संकल्प सत्य है) इत्यादि श्रुतिमें परमात्मा स्वयंप्रकाशस्वरूप और सत्यसंकल्प कहा गया है और किसी तेजस्वीके प्रकाशके अनन्तर सूर्य आदि का चमकना प्रसिद्ध नहीं है। सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थ सब समान हैं अतः उनको अन्य तेजस्वीकी अपेक्षा नहीं है कि जिसके चमकने पर वे चमकें। प्रदीप किसी अन्य प्रदीपके प्रकाशके अनन्तर नहीं प्रकाशता। और पीछे यह जो कहा गया है कि जिनका स्वभाव समान है, उनमें अनुकरण दिखाई देता है, ऐसा कोई एकान्तिक—अटल नियम नहीं है, क्योंकि भिन्न स्वभाववालोंमें भी

रत्नप्रभा

स्वार्थमुक्तम्, तत्र श्रुतिमाह—**भारूप इति**। मानाभावाच्च तेजोधातुर्न ग्राह्य इत्याह—**न त्विति**। किञ्च, सूर्यादयः तेजोऽन्तरभानमनु न भान्ति, तेजस्त्वात् प्रदीपवदित्याह—**समत्वाच्चेति**। योऽयम् अनुकरोति स तज्जातीय इति नियमो नाऽस्तीत्याह—**नायमेकान्त इति**। पौनरुक्त्यम् आशङ्क्य उक्तानुवादपूर्वकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए प्राज्ञशब्द कहा है। उसकी पुष्टिके लिए प्रमाणरूपसे श्रुति उद्धृत करते हैं—"भारूपः" इत्यादि। प्रमाणके अभावसे भी तेजोधातुका ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे। और सूर्य आदि पदार्थ तेज होनेके कारण प्रदीपके समान दूसरे तेजके प्रकाशसे नहीं प्रकाशते, ऐसा कहते हैं—"समत्वाच्च" इत्यादिसे। जो जिसका अनुकरण करता है, वह उसी जातिका हो, यह नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नायमेकान्तः" इत्यादिसे

भाष्य

नुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति । अनुकृतेरित्यनुभानमसुसूचत् । तस्य चेति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । तेजोन्तरेण तु सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च, तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्रतिघातात् ।

भाष्यका अनुवाद

अनुकरण देखनेमें आता है, जैसे कि भली भांति तपा हुआ लोहे का गोला अग्निका अनुकरण करता है अर्थात् जलते हुए अग्निके पीछे जलता है अथवा पृथिवीकी रज बहते हुए वायुके पीछे चलतीं हैं । 'अनुकृतेः' यह सूत्रभाग अनुभानको सूचित करता है । 'तस्य च' यह सूत्रभाग उक्त श्लोकके चौथे पादको सूचित करता है । 'तस्य भासा०' (उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है) इस प्रकार तत्कृत जो सूर्य आदिका प्रकाश श्रुतिमें कहा गया है, वह भी परमात्माकी अवगति कराता है । 'तद्देवा ज्योतिषां०' (वह ज्योतियोंका ज्योति जो अमृत है, उसकी देव आयुरूपसे उपासना करते हैं) इस प्रकार श्रुति परमात्माको कहती है । सूर्य आदि तेज अन्य तेजसे प्रकाशित होते हैं, यह अप्रसिद्ध है और विरुद्ध भी है, क्योंकि एक तेज दूसरे तेजका प्रतिघात करता

रत्नप्रभा

सूत्रोक्तं हेत्वन्तरं व्याचष्टे—**अनुकृतेरितीति** । तमेव भान्तमिति एवकारोक्तं तद्भानं विना सर्वस्य पृथग्भानाभावरूपमनुभानमनुकृतेरित्यनेन उक्तम् । तस्य चेति सर्वभासकत्वमुक्तमित्यपौनरुक्त्यमित्यर्थः । आत्मनः सूर्यादिभासकत्वं श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमविरुद्धं चेत्याह—**तद्देवा इति** । सर्वशब्दः प्रकृतसूर्यादिवाचकत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुनरुक्तिकी आशंका करके पूर्व कथितका अनुवादपूर्वक सूत्रमें कहा हुआ दूसरा हेतु कहते हैं—"अनुकृतेरिति" इत्यादिसे । 'तमेव०' इसमें एवकारसे सूचित उसके प्रकाशके बिना सबका पृथक् पृथक् प्रकाशाभावरूप अनुभान 'अनुकृतेः' इस सूत्रभागसे कहा गया है और 'तस्य च' इस सूत्रभागसे 'वह सर्वभासक है' ऐसा कहा है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं है, यह तात्पर्य है । आत्मा सूर्य आदिका भासक है, यह अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध है और अविरुद्ध भी है, ऐसा कहते हैं—"तद्देवाः" इत्यादिसे । 'सर्वमिदं०' में 'सर्व' शब्द प्रकृत सूर्य आदिका वाचक है, ऐसा व्याख्यान किया गया है, अब उसकी असंकुचित वृत्ति मानकर अर्थान्तर

भाष्य

अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते । किं तर्हि ? 'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवाऽस्य नामरूपक्रियाकारक-फलजातस्य याऽभिव्यक्तिः, सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता । यथा सूर्यादि-ज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याऽभिव्यक्तिः तद्वत् । 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च तत्रशब्दमाहरन् प्रकृतग्रहणं दर्शयति । प्रकृतं च ब्रह्म 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' (मु०२।२।५) इत्यादिना । अनन्तरं च

'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥' इति ॥

भाष्यका अनुवाद

है अर्थात् अभिभावक है । अथवा श्लोकमें पढ़े हुए सूर्य आदि ही उससे प्रकाशित नहीं होते, किन्तु जैसे सूर्यज्योतिसे ही सब रूपसमुदायकी अभि-व्यक्ति होती है, वैसे ही 'सर्वमिदम्' इस साधारण श्रुतिसे नाम, रूप, क्रिया, कारक और फलसमुदायकी अभिव्यक्ति ब्रह्म ज्योति की सत्ता से ही होती है । 'न तत्र०' इसमें 'तत्र' शब्दका कथन करती हुई श्रुति प्रकृतका ग्रहण दिखलाती है और 'यस्मिन् द्यौः०' (जिसमें द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष कल्पित हैं) इत्यादिसे ब्रह्म ही प्रकृत है, और तदन्तर 'हिरण्मये परे कोशे० (जिसको आत्मवेत्ता जानते हैं, वह ज्योतिर्मय आनन्दमय श्रेष्ठ कोशमें स्थित अवि-द्यादि दोषवर्जित निरवयव ब्रह्म है, वह शुद्ध एवं ज्योतियोंका ज्योति है)

रत्नप्रभा

व्याख्यातः, सम्प्रति तस्याऽसंकुचद्वृत्तितां मत्वाऽर्थान्तरमाह—अथवेति । तत्रेति सर्वनामश्रुत्या प्रकृतं ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—न तत्र सूर्य इति । किञ्च, स्पष्टब्रह्म-परपूर्वमन्त्राकाङ्क्षापूरकत्वाद् अयं मन्त्रो ब्रह्मपर इत्याह—अनन्तरं चेति । हिरण्मये ज्योतिर्मये, अन्नमयाद्यपेक्षया परे कोशे—आनन्दमयाख्ये पुच्छशब्दितं ब्रह्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । 'तत्र' इस सर्वनामसे प्रकृत ब्रह्म ग्राह्य है, ऐसा कहते हैं—"न तत्र सूर्यः" इत्यादिसे । और पूर्व मंत्रमें ब्रह्म स्पष्टतया प्रतीत होता है और यह मंत्र उस मन्त्रकी आकांक्षा पूरी करता है, इसलिए यह भी ब्रह्मपरक है, ऐसा कहते हैं—"अनन्तरं च" इत्यादिसे । हिरण्यमय अर्थात् ज्योतिर्मय, पर अर्थात् अन्नमय आदि कोशोंसे पर जो आनन्दमय कोश है, उसमें 'ब्रह्म पुच्छ०' ऐसा जो पुच्छशब्दप्रतिपाद्य ब्रह्म है, वह विरज है अर्थात् आगन्तुक मलसे शून्य है, निष्कल अर्थात् निरवयव है और शुभ्र अर्थात्

भाष्य

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति। यदप्युक्तम्—सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषेधस्तेजोधातावेवाऽन्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषाम् इति। तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न सम्भवतीत्युपपादितम्। ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते, यतो यदुपलभ्यते तत् सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नाऽन्येन ज्योतिषोपलभ्यते स्वयंज्योतिःस्वरूपत्वात्, येन सूर्यादयस्तस्मिन् भायुः।

भाष्यका अनुवाद

इस श्रुतिसे ब्रह्म ही कहा गया है। वह ज्योतियोंका ज्योति किस प्रकार है? इस शंकाके उत्तरमें 'न तत्र०' इत्यादि मंत्र कहा गया है। सूर्यमें अन्य तेजोंके प्रतिषेधके समान सूर्य आदि तेजोंके प्रकाशका प्रतिषेध तभी बन सकता है जब कि कोई अन्य तेजस्वी पदार्थ हो, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसके उत्तरमें वह ब्रह्मही तेज है उससे अन्यका सम्भव नहीं है, ऐसा उपपादन किया जा चुका है। ब्रह्ममें भी इन तेजोंके प्रकाशका प्रतिषेध संभव है, क्योंकि जो उपलब्ध होता है, वह सब ब्रह्मरूप ज्योति द्वारा ही उपलब्ध होता है। यदि ब्रह्म अन्यभास्य होता तो सूर्य आदि उसके भासक हो सकते, किन्तु ब्रह्म अन्य ज्योतिसे उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि

रत्नप्रभा

विरजम्—आगन्तुकमलशून्यम्, निष्कलम्—निरवयवम्, शुभ्रम्—नैसर्गिकमलशून्यं सूर्यादिसाक्षिभूतं ब्रह्मवित्प्रसिद्धमित्यर्थः। सतिसप्तमीपक्षमनुवदति—**यदपीति**। सूर्याद्यभिभावकतेजोधातौ प्रामाणिके तस्येह ग्रहणशङ्का स्यात् न तत्र प्रमाणमस्ति इत्याह—**तत्रेति**। सिद्धान्ते तत्रेति वाक्यार्थः कथमित्याशङ्क्याह—**ब्रह्मण्यपीति**। सतिसप्तमीपक्षे न भातीति श्रुतं वर्तमानत्वं त्यक्त्वा तस्मिन् सति न भास्यन्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वाभाविक मलसे शून्य है, ज्योतियोंका अर्थात् सूर्य आदिका ज्योति—साक्षिभूत है एवं ब्रह्मवेत्ताओंमें प्रसिद्ध है, यह श्रुतिका अर्थ है। सतिसप्तमीपक्षका अनुवाद करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। सूर्य आदिका अभिभव करनेवाला कोई तेजोधातु प्रमाणसे सिद्ध हो तो उसका ग्रहण करें या न करें, ऐसा विचार हो, परन्तु उस तेजोधातुके अस्तित्वमें ही प्रमाण नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। सिद्धान्तमें 'तत्र' इत्यादि वाक्यका क्या अर्थ है, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"ब्रह्मण्यपि" इत्यादि। सतिसप्तमीपक्षमें 'न भाति' ऐसा जो वर्तमान काल श्रुत है, उसका त्याग करके 'तस्मिन्०' वह हो तो प्रकाश नहीं करेंगे, ऐसे अश्रुत

भाष्य

ब्रह्म ह्यन्यद् व्यनक्ति, न तु ब्रह्म अन्येन व्यज्यते 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।६) 'अगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ४।२।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

वह स्वयंज्योतिःस्वरूप है। ब्रह्म अन्य पदार्थोंको व्यक्त करता है, परन्तु अन्यसे व्यक्त नहीं होता, क्योंकि 'आत्मनैवायं०' (आत्मरूप ज्योतिसे ही यह प्रकाशित है) 'अगृह्यो नहि०, (यह अगृह्य है, क्योंकि ग्रहण नहीं किया जा सकता) इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

इति अश्रुतभविष्यत्त्वं कल्पनीयं प्रत्यक्षविरोधनिरासाय, विषयसप्तमीपक्षे तु न भासयति इत्यश्रुतणिजध्याहारमात्रं कल्प्यम्, न श्रुतत्याग इति लाघवम्, अतो ब्रह्मणि विषये सूर्यादेर्भासकत्वनिषेधेन ब्रह्मभास्यत्वमुच्यते इत्यर्थः। येनाऽन्यभास्यत्वेन हेतुना सूर्यादयस्तस्मिन् ब्रह्मणि विषये भासकाः स्युः, तथा तु ब्रह्म अन्येन न उपलभ्यते स्वप्रकाशत्वादिति योजना। उक्तमेव श्रुत्यन्तरेण द्रढयति—ब्रह्मेति। स्वप्रकाशत्वे अन्याभास्यत्वे च श्रुतिद्वयम्। ग्रहणायोग्यत्वाद् अग्राह्य इत्यर्थः ॥२२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भविष्यत् कालकी कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि इस कल्पनासे ही प्रत्यक्ष विरोधका अर्थात् जो विरोध प्रत्यक्ष है कि प्रत्यक्ष प्रकाशित होनेवाला सूर्य 'नहीं प्रकाशता है' इस कथनका निरास होगा। और विषयसप्तमीपक्षमें तो 'न भासयति' प्रकाश नहीं करता' ऐसे अश्रुत 'णिच्' के अध्याहारकी ही कल्पना करनी पड़ेगी, और श्रुतका त्याग नहीं है, ऐसा लाघव है, इसीलिए ब्रह्मके विषयमें सूर्य आदिके भासकत्वके निषेधसे वे ब्रह्मसे भास्य हैं, ऐसा कहा गया, यह अर्थ है। यदि ब्रह्म अन्यभास्य होता तो सूर्य आदि उसके भासक होते, ब्रह्म तो अन्यभास्य नहीं है, क्योंकि स्वप्रकाश है, ऐसी योजना करनी चाहिए। उक्त अर्थको ही अन्य श्रुतिसे दृढ़ करते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। ब्रह्म स्वप्रकाशक है और अन्यसे भास्य नहीं है, इस विषयमें दो श्रुतियाँ हैं। ब्रह्म ग्रहण करने योग्य नहीं है, इसलिए अग्राह्य है, यह श्रुतिका अर्थ है ॥२२॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—अपि च—किञ्च, स्मर्यते—इदं रूपम्—'न तद् भासयते सूर्यो' 'यदादित्यगतं तेजो' इत्यादिभगवद्गीतास्वपि ब्रह्मण एव स्मर्यते ।

भाषार्थ—और 'न तद्भासयते०' (न उसको सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि) 'यदादित्य०' (आदित्यमें रहनेवाला जो तेज है, वही इस सारे जगत्को प्रकाशित करता है) इत्यादि भगवद्गीतामें भी यह पूर्वोक्त रूप ब्रह्मका ही कहा गया है ।

भाष्य

अपि चेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवाऽऽत्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—
'न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥ (गी० १५।६) इति,
'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाऽग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥' (गी० १५।१२) इति च ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

और भगवद्गीतामें भी ऐसा स्वरूप परमात्माका ही कहा गया है 'न तद्भासयते सूर्यो न०' (उसको न सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित करते हैं और न अग्नि ही प्रकाशित करती है, जिसको प्राप्त करके पुरुष पीछे नहीं लौटता, वह मेरा परम धाम है) और 'यदादित्यगतं०' (आदित्यगत जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशमान करता है और जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है वह तेज मेरा ही जानो) ॥२३॥

रत्नप्रभा

णिजध्याहारपक्षे स्मृतिबलमप्यस्ति इत्याह—**अपि चेति** । सूत्रं व्याचष्टे—**अपि चेति** । अभास्यत्वे सर्वभासकत्वे च श्लोकद्वयं द्रष्टव्यम् । तस्माद् अनुभानमन्त्रो ब्रह्मणि समन्वित इति सिद्धम् ॥ २३ ॥ (७) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे कहते हैं कि 'णिच्' के अध्याहार पक्षमें स्मृतिका भी बल है। सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । ब्रह्म अन्यभास्य नहीं है और सर्वभासक है, इन दो विषयोंमें दो श्लोक हैं । इससे अनुभानमंत्रका ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध हुआ ॥२३॥

[७ प्रमिताधिकरण सू० २४-२५]

अङ्गुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः ।
देहमध्ये स्थितेश्चैव जीवो भवितुमर्हति ॥१॥
भूतभव्येशता जीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः ।
स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्तो हृद्यस्योपलब्धितः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इस श्रुतिमें उक्त अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्ष—अँगूठेके बराबर अल्प प्रमाण होने एवं देहके मध्यमें रहनेके कारण उक्त पुरुष जीव ही हो सकता है ।

सिद्धान्त—जीव भूत और भविष्यत् जगत्का शासक नहीं हो सकता, इसलिए वह ईश्वर ही है । हृदयमें ईश्वरकी उपलब्धि होती है, अतः हृदयमें रहना, अँगूठेके बराबर होना ईश्वरमें भी संभव है । इसलिए उक्त वाक्यमें ईश्वर ही कहा गया है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि कठोपनिषत्की चौथी वल्लीमें—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥" यह श्रुति है । इसका अर्थ है कि अँगूठेके बराबर पुरुष देहके मध्यमें रहता है, वह भूत और भविष्यत्का स्वामी है, उसके ज्ञात होनेके बाद जीव अपना रक्षण करना नहीं चाहता, क्योंकि वह अभयको प्राप्त हो जाता है । यहांपर सन्देह होता है कि अङ्गुष्ठमात्र जो पुरुष कहा गया है, वह जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव ही है, क्योंकि अँगूठेके बराबर अल्प प्रमाण एवं देहके मध्यमें स्थिति जीवकी ही हो सकती है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि अङ्गुष्ठमात्र परमात्मा ही है, क्योंकि 'ईशानो भूतभव्यस्य' से श्रुति उसे भूत और भविष्यत् रूप सारे जगत्का नियन्ता कहती है । जीव तो स्वयं नियम्य है, अतः उसमें जगन्नियन्तृत्व सम्भव नहीं है । अँगूठेके बराबर अल्प परिमाण तथा देहके मध्यमें स्थिति ईश्वरमें भी संभव है । ईश्वरकी अल्प हृदयकमलमें उपलब्धि होती है, अतः अल्प परिमाण और देहमध्यमें अवस्थितिका यहां संकीर्तन है । इससे सिद्ध हुआ कि अङ्गुष्ठमात्र परमेश्वर ही है ।

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

पदच्छेद—शब्दाद्, एव, प्रमितः ।

पदार्थोक्ति—प्रमितः—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य' इति प्रमितवाक्यप्रतिपाद्यः [जीवाभिन्नः परमात्मैव, कुतः] शब्दादेव—श्रुतौ ईशानशब्दसत्त्वादेव ।

भाषार्थ—'अङ्गुष्ठमात्रः०' (अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो धूमरहित ज्योतिके समान है, वह भूत एवं भविष्यत्का शासक है) इत्यादि प्रमितवाक्यसे प्रतिपाद्य अङ्गुष्ठमात्र जीवसे अभिन्न परमात्मा ही है, क्योंकि श्रुतिमें 'ईशान' शब्द आया है। ईशान—सबका शासक परमात्मा ही है ।

भाष्य

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते । तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स

भाष्यका अनुवाद

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो०' (अँगूठेके बराबर पुरुष देहके मध्यमें रहता है) और अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योति०' (अँगूठेके बराबर पुरुष धूमरहित ज्योति-सा है, भूत और भविष्यत्का स्वामी है, वही आज है, वही कल रहेगा, यही वह

रत्नप्रभा

शब्दादेव प्रमितः । काठकवाक्यं पठति—**अङ्गुष्ठेति** । पुरुषः पूर्णोऽपि आत्मनि देहे मध्ये अङ्गुष्ठमात्रे हृदये तिष्ठति इत्यङ्गुष्ठमात्र इत्युच्यते । तस्यैव परमात्मत्ववादिवाक्यान्तरमाह—**तथेति** । अधूमकमिति पठनीयम् । योऽङ्गुष्ठ-मात्रो जीवः, स वस्तुतो निर्धूमज्योतिर्वत् निर्मलप्रकाशरूप इति त्वमर्थं संशोध्य तस्य ब्रह्मत्वमाह—**ईशान इति** । तस्य अद्वितीयत्वमाह—**स एवेति** । कालत्रयेऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

काठकवाक्यको उद्धृत करते हैं—"अङ्गुष्ठ" इत्यादिसे । पुरुष अर्थात् व्यापक भी देहके मध्यभागमें अँगूठेके बराबर हृदयमें रहता है, इसलिए अङ्गुष्ठमात्र कहलाता है । उसीका परमात्मरूपसे प्रतिपादन करनेवाला दूसरा वाक्य कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । 'ज्योतिः' पद नपुंसकलिङ्ग है, अतः 'अधूमकः' के स्थानमें 'अधूमकम्' पढ़ना चाहिए । अँगूठेके बराबर जो जीव है, वह वस्तुतः धूमरहित ज्योतिके समान निर्मल प्रकाशरूप है, इस प्रकार त्वंपदार्थका शोधन करके वह ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं—"ईशानः" इत्यादिसे । वह अद्वितीय है, ऐसा

भाष्य

उ श्च एतद्वै तत्' (का० २।४।१३) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते स किं विज्ञानात्मा किं वा परमात्मेति संशयः। तत्र परिमाणोपदेशात् तावद् विज्ञानात्मेति प्राप्तम्। नह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणत्वमुपपद्यते। विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात् सम्भवति कयाचित् कल्पनयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वम्। स्मृतेश्च—

भाष्यका अनुवाद

नचिकेताके प्रश्नका विषय ब्रह्म है) ये दो श्रुतियाँ हैं। उन श्रुतियोंमें जो अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कहा गया है, वह विज्ञानात्मा—जीव है या परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है।

पूर्वपक्षी—उक्त वाक्यमें परिमाणके कथनसे प्रतीत होता है कि वह विज्ञानात्मा है। क्योंकि जिसके दीर्घत्व और विस्तारकी इयत्ता नहीं है, वह परमात्मा अँगूठेके बराबर हो, यह युक्त नहीं है। सोपाधिक होनेसे विज्ञानात्मा तो किसी न किसी प्रकार अँगूठेके बराबर हो सकता है। और

रत्नप्रभा

पि स एवाऽस्ति नाऽन्यत् किञ्चित्, यत् नचिकेतसा पृष्टं ब्रह्म, तत् एतदेवेत्यर्थः। परिमाणेशानशब्दाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति**। यथा अनुमानादिलिङ्गात् णिजध्याहारेण सूर्याद्यगोचरो ब्रह्म इति उक्तम्, तथा प्रथमश्रुतपरिमाणलिङ्गात् जीवप्रतीतौ 'ईशानोऽस्मि इति ध्यायेत्' इति विध्यध्याहारेण ध्यानपरं वाक्यमिति पूर्वपक्षयति—**तत्र परिमाणेति**। पूर्वपक्षे ब्रह्मदृष्ट्या जीवोपास्तिः, सिद्धान्ते तु प्रत्यग्ब्रह्मैक्यज्ञानं फलमिति मन्तव्यम्। आयामः—दैर्घ्यम्, विस्तारः—महत्त्वम् इति भेदः। **कयाचिदिति**। अङ्गुष्ठमात्रहृदयस्य विज्ञानशब्दितबुद्ध्यभेदाध्यासकल्पनया इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"स एव" इत्यादिसे। अर्थात् वर्तमानकालमें वही है, भविष्यत्कालमें वही रहेगा और भूतकालमें वही था, उससे अन्य कोई नहीं है, नचिकेताने 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इत्यादिसे जो ब्रह्म पूछा है, वह यही है। परिमाणकथन और ईशानशब्दप्रयोगसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणमें अनुमान आदि लिङ्गोंसे विषयसप्तमी मानकर 'णिच्' का अध्याहार करके ब्रह्म सूर्य आदिके अगोचर है, ऐसा प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रथम श्रुत परिमाणलिङ्गसे जीवकी प्रतीति करके 'ईशानो०' ('मैं नियन्ता हूँ' ऐसा ध्यान करे) इस प्रकार विधिका अध्याहार करके इस वाक्यको ध्यानपरक समझना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र परिमाण" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें ब्रह्मदृष्टिसे जीवकी उपासना फल है और सिद्धान्तमें प्रत्यगात्मा और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान फल है। 'आयाम' अर्थात् लम्बाई और 'विस्तार' अर्थात् महत्त्व। "कयाचिद्" इत्यादि। अर्थात् अङ्गुष्ठमात्र हृदयके साथ विज्ञान-

भाष्य

'अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥'

(म० भा० ३।२९७।१७) इति। नहि परमेश्वरो बलाद् यमेन निष्क्रष्टुं शक्यः, तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः स एवेहाऽपीति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवाऽयमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति । कस्मात्, शब्दात्—'ईशानो भूतभव्यस्य' इति । नह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता । 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृतं

भाष्यका अनुवाद

'अथ सत्यवतः०' (इसके बाद यमने सत्यवान्के शरीरसे अपने पाशोंसे बँधे हुए और कर्मवशीभूत अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको बलपूर्वक खींच लिया) यह स्मृति भी है। परमेश्वर यमसे बलपूर्वक कदापि नहीं खींचा जा सकता, इसलिए स्मृतिमें जीव ही अँगूठेके बराबर कहा गया है, वही यहां भी अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं । यहां अङ्गुष्ठामात्र परिमाण पुरुष परमात्मा ही है। किससे ? 'ईशानो०' (भूत और भव्यका स्वामी) इस श्रुतिसे भूत और भव्यका निरङ्कुश नियन्ता परमेश्वरसे अन्य नहीं हो सकता ।

रत्नप्रभा

स्मृतिसंवादादपि अङ्गुष्ठमात्रो जीव इत्याह—**स्मृतेश्चेति** । अथ-मरणानन्तरम्, यमपाशैर्बद्धम्, कर्मवशं प्राप्तमित्यर्थः। तत्राऽपि ईश्वरः किं न स्यादित्यत आह—**न हीति** । "प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः" इति यमस्य ईश्वरनियम्यत्वस्मरणादिति भावः ।

भूतभव्यस्य इति उपपदात् साधकात् बाधकाभावाच्च ईशान इतीशत्वशब्दात् निरङ्कुशमीशिता भाति इति श्रुत्या लिङ्गं बाध्यमिति सिद्धान्तयति—**परमात्मैवेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्दप्रतिपादित बुद्धिके अभेदाध्यासकी कल्पनासे । स्मृतिके संवादसे भी अङ्गुष्ठमात्र जीव है, ऐसा कहते हैं—"स्मृतेश्च" इत्यादिसे । अथ—मरनेके अनन्तर, पाशबद्धम्—यमपाशोंसे बँधा हुआ, वशं गतम्—कर्मोंके अधीन । इस स्मृतिमें भी ईश्वर ही कहा गया है, ऐसा क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि । 'प्रभवति०' (विष्णु मुझे भी नियममें रखनेकी शक्ति रखते हैं) इस स्मृतिसे ज्ञात होता है कि यम ईश्वरसे नियम्य है, इसलिए यहाँ ईश्वर प्रतिपाद्य नहीं है ।

'भूतभव्यस्य' इस उपपदसे 'ईशानः' इस श्रुतिमें 'ईश' शब्दसे और कोई बाधक न होनेसे निरङ्कुश शासक प्रतीत होता है, इसलिए श्रुतिसे लिङ्गका बाध होता है, ऐसा सिद्धान्त

भाष्य

पृष्टमिहाऽनुसन्दधाति । एतद्वै तद्यत् पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः । पृष्टं चेह ब्रह्म—
'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद" (का० १।२।१४) इति ।
शब्दादेवेत्यभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरोऽवगम्यत इत्यर्थः ॥२४॥
कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

'एतद्वै०' (यही वह है) इस प्रकार प्रकृत पूछे हुएका ही यहां श्रुति अनुसन्धान करती है । जो ब्रह्म पूछा गया है, वह यही है, ऐसा अर्थ है । और यहां 'अन्यत्र धर्मा०' (धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य और कारणसे अन्य एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानसे भिन्न जिसको आप देखते हो, उसे कहो) इस प्रकार ब्रह्म पूछा गया है । शब्दसे ही अर्थात् 'ईशानः' इस अभिधान श्रुतिसे ही यह परमेश्वर है ऐसा ज्ञात होता है ॥ २४ ॥

सर्वत्र व्याप्त परमेश्वरके परिमाणका उपदेश कैसे करते हैं ? इसपर सूत्रसे उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

प्रकरणाच्च ब्रह्मपरमिदं वाक्यमित्याह—एतदिति । शब्दः—वाक्यं लिङ्गाद् दुर्बलमित्याशङ्क्याऽऽह—शब्दादिति ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"परमात्मैव" इत्यादिसे । प्रकरणसे भी यह वाक्य ब्रह्मपरक ही है, ऐसा कहते हैं—"एतद्" इत्यादिसे । शब्द अर्थात् वाक्य लिङ्गसे दुर्बल है, यह आशङ्का करके कहते हैं—"शब्दात्" इत्यादि ॥२४॥

—:—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—हृदि, अपेक्षया, तु, मनुष्याधिकारत्वात् ।

पदार्थोक्ति—मनुष्याधिकारत्वात्—शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वात्, हृद्यपेक्षया—मनुष्याणां हृदयस्य अङ्गुष्ठमात्रत्वात् तदपेक्षया [परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्तम्] ।

भावार्थ—शास्त्रमें मनुष्य ही अधिकृत हैं, मनुष्योंका हृदय अँगूठेके बराबर है, उस हृदयमें रहनेके कारण उसकी अपेक्षासे परमेश्वर अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है ।

भाष्य

सर्वगतस्याऽपि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याऽङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते आकाशस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम् । नह्यञ्जसाऽतिमात्रस्यैव परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते । न चाऽन्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम् ।

ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात् तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति । शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाऽधिकरोति, शक्तत्वात्, अर्थित्वात्, अपर्युदस्तत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

जैसे बांसके पर्वमें रहनेके कारण आकाश अरत्नि–हाथभरका कहलाता है, वैसे ही हृदयमें रहनेके कारण सर्वव्यापक परमेश्वर अङ्गुष्ठपरिमाण कहा जाता है। क्योंकि परिमाणातीत परमेश्वर वस्तुतः अङ्गुष्ठपरिमाण नहीं हो सकता है और ईशानशब्द आदि कारणोंके सद्भावसे परमेश्वरसे अन्यका ग्रहण भी यहां नहीं किया जा सकता, ऐसा पीछे कह चुके हैं।

परन्तु प्रत्येक प्राणीका भिन्न भिन्न परिमाणवाला हृदय होता है एक-सा नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षासे भी परमात्माका अङ्गुष्ठपरिमाण युक्त नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं—'मनुष्याधिकारत्वात्'। यद्यपि शास्त्र सामान्यरीतिसे प्रवृत्त है, तो भी अपनेमें त्रैवर्णिकोंका ही अधिकार बतलाता है, क्योंकि वे समर्थ हैं, कामना विशेषसे युक्त हैं, श्रुत्युक्त कर्मके अनुष्ठानमें निषिद्ध नहीं हैं

रत्नप्रभा

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्—करः सकनिष्ठिकः—अरत्निः। मुख्याङ्गुष्ठमात्रो जीवो गृह्यतां किं गौणग्रहणेन इत्यत आह—**न चान्य इति**। सति सम्भवे मुख्यग्रहो न्याय्यः। अत्र तु श्रुतिविरोधादसम्भव इति गौणग्रह इत्यर्थः।

मनुष्यानेवेति। त्रैवर्णिकानेव इत्यर्थः। शक्तत्वादिति अनेन पश्वादीनां देवानाम् ऋषीणां च अधिकारो वारितः। तत्र पश्वादीनां शास्त्रार्थज्ञानादिसामग्र्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कनिष्ठिकासे सहित कर अरत्नि अर्थात् कुहनीसे लेकर छिगुनी अँगुलीके सिरे तक। तब अङ्गुष्ठमात्रका मुख्यार्थ जीवका ग्रहण करो, गौण ईश्वरका ग्रहण क्यों करते हो? इसपर कहते हैं—"न चान्यः" इत्यादि। सम्भव हो तो मुख्यका ग्रहण करना उचित ही है, किन्तु यहाँ तो श्रुतिविरोधसे मुख्य अर्थका ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिए गौणका ग्रहण किया है।

"मनुष्यानेव"—त्रैवर्णिकोंका ही अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका ही। 'शक्तत्वात्'

भाष्य

उपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जै० ६।१)। मनुष्याणां

भाष्यका अनुवाद

और उपनयन आदि शास्त्र उन्हींसे संबन्ध रखते हैं, ऐसा अधिकारके लक्षणमें

रत्नप्रभा

भावात् कर्मणि अशक्तिः। इन्द्रादेः स्वदेवताके कर्मणि स्वोद्देशेन द्रव्यत्यागायोगाद् अशक्तिः। ऋषीणामार्षेयवरणे ऋष्यन्तराभावाद् अशक्तिः। आर्थित्वादिति अनेन निष्कामानां मुमुक्षूणां स्थावराणां चाऽधिकारो वारितः। तत्र मुमुक्षूणां शुद्धयर्थित्वे नित्यादिषु अधिकारो न काम्येषु। शुद्धचित्तानां मोक्षार्थित्वे श्रवणादिषु व्यञ्जकेषु अधिकारो, न कर्मसु इति मन्तव्यम्। शूद्रस्य अधिकारं निरस्यति—**अपर्युदस्तत्वादिति**। "शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" (तै० सं० ७।१।१।६) इति पर्युदासात्, "उपनयीत" "तमध्यापयीत" इति शास्त्राच्च न शूद्रस्य वैदिके कर्मणि अधिकारः। तस्य एकजातित्वस्मृतेः उपनयनप्रयुक्तद्विजातित्वाभावेन वेदाध्ययनाभावात्। अत्र अपेक्षितो न्यायः षष्ठाध्याये वर्णित इत्याह—**वर्णितमिति**। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिशास्त्रस्य अविशेषेण सर्वान् फलार्थिनः प्रति प्रवृत्तत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस शब्दसे पशु आदिका, देवताओं और ऋषियोंका अधिकार नहीं है, ऐसा सूचित किया है। इनमें पशु आदिमें शास्त्रार्थज्ञान आदि सामग्री नहीं है, इसलिए कर्म करनेमें वे असमर्थ हैं। यज्ञ आदि कर्म देवताओंके उद्देशसे होते हैं और अपने उद्देशसे द्रव्यत्याग—होम नहीं हो सकता, इसलिए देवता भी कर्म करनेमें असमर्थ हैं। आर्षेय ऋषियोंके वरणमें तथाभूत अन्य ऋषियोंके न होनेसे ऋषि कर्मानुष्ठानमें असमर्थ हैं। 'अर्थित्वात्' इस शब्दसे सूचित होता है कि कामनारहित मुमुक्षुओं और स्थावरोंका कर्मानुष्ठानमें अधिकार नहीं है। इनमें मुमुक्षु यदि चित्तशुद्धि चाहते हों तो उनका नित्य, नैमित्तिक कर्मोंमें अधिकार है, काम्य कर्ममें नहीं है। जिनका चित्त शुद्ध है, यदि वे मोक्ष चाहते हैं, तो उनका मोक्षके अभिव्यञ्जक श्रवण आदिमें अधिकार है, कर्ममें नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। "अपर्युदस्तत्वात्" इससे शूद्रोंका शास्त्रमें अधिकारका अभाव सूचित करते हैं। 'शूद्रो यज्ञे०' (शूद्र यज्ञके योग्य नहीं है) ऐसा निषेध होनेसे और 'उपनयीत' 'तमध्यापयीत' (उसका उपनयन करे और अध्यापन करे) इस शास्त्रसे शूद्रका वैदिक कर्ममें अधिकार नहीं है। क्योंकि शूद्र द्विज नहीं है, स्मृतिमें कहा है कि वह एकजाति है, इसलिए उपनयनप्रयुक्त द्विजातित्वके अभावसे उसको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है। यहाँ जिस न्यायकी अपेक्षा है, उसका पूर्वमीमांसाके छठे अध्यायमें वर्णन है, ऐसा कहते हैं—"वर्णितम्" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि 'स्वर्गकामो०' (स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे) इत्यादि शास्त्र सामान्य रीतिसे सभी सुखाभिलाषियोंके प्रति प्रवृत्त होता है और

भाष्य

च नियतपरिमाणः कायः, औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। यदप्युक्तम्—परिमाणोपदेशात् स्मृतेश्च संसार्येवाऽयमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य इति, तत्प्रत्युच्यते—'स आत्मा

भाष्यका अनुवाद

जैमिनिने वर्णन किया है। मनुष्योंके शरीरका परिमाण निश्चित है, इसलिए उनके हृदयका भी परिमाण निश्चित—अङ्गुष्ठमात्र होना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रमें मनुष्योंका अधिकार होनेसे मनुष्यके हृदयमें रहनेके कारण परमात्मा अङ्गुष्ठमात्र है। परिमाणके उपदेशसे और स्मृतिसे यह अङ्गुष्ठमात्र जीव ही है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका निराकरण करते हैं—'स आत्मा०' (वह

रत्नप्रभा

प्राणिमात्रस्य सुखार्थित्वाच्च फलार्थे कर्मणि पश्वादीनामपि अधिकार इत्याशङ्क्य उक्तरीत्या तेषां शक्तत्वाद्यभावात् स्वर्गकामपदं मनुष्यपरतया संकोच्य मनुष्याधिकारत्वे स्थापिते चातुर्वर्ण्याधिकारित्वमाशङ्क्य "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः" इति त्रयाणामेवाऽग्निसम्बन्धश्रवणात् तेषामेवाऽधिकार इति वर्णितमित्यर्थः। अस्तु प्रस्तुते किमायातम्, तत्राह—**मनुष्याणाञ्चेति**। प्रायेण सप्तवितस्तिपरिमितो मनुष्यदेह इत्यर्थः। एवमङ्गुष्ठशब्दः हृत्परिमाणवाचकः तत्रस्थं ब्रह्म लक्षयतीति उक्तम्। सम्प्रति तच्छब्देनाऽङ्गुष्ठमात्रं जीवमनूद्य अयमीशान इति ब्रह्माभेदो बोध्य इति वक्तुमुक्तम् अनुवदति—**यदपीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राणिमात्र सुखकी इच्छा करते हैं, अतः फलके लिए निर्दिष्ट कर्ममें पशु आदिका भी अधिकार है, ऐसी आशङ्का करके पूर्वोक्तानुसार उनकी कर्मानुष्ठानमें सामर्थ्य आदि न होनेके कारण 'स्वर्गकाम' पद मनुष्यपरक है, ऐसा अर्थसंकोच करके केवल मनुष्यका अधिकार स्थापित करनेपर उक्त अधिकार चारों वर्णोंपर लागू होता है, ऐसी आशङ्का करके 'वसन्ते ब्राह्मणो०' (वसन्तमें ब्राह्मण, ग्रीष्ममें क्षत्रिय और शरद्में वैश्य अग्नियोंका आधान करे) इस प्रकार तीन ही वर्णोंका अग्निसंबन्ध श्रुतिनिर्दिष्ट होनेके कारण उनका ही शास्त्रमें अधिकार है, ऐसा वर्णन किया है। अस्तु, इससे प्रस्तुतमें क्या लाभ हुआ, इसपर कहते हैं—"मनुष्याणां च" इत्यादि। अर्थात् प्रायः मनुष्यशरीर सात बालिश्तका होता है। इस प्रकार हृदयके परिमाणका वाचक अङ्गुष्ठशब्द हृदयमें रहनेवाले ब्रह्मका लक्षक है, ऐसा कहा है। अब उस शब्दसे अङ्गुष्ठमात्र जीवका अनुवाद करके 'अयमीशानः' (यह नियन्ता है) इस प्रकार उसका ब्रह्मसे अभेद जतानेके लिए पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। प्रतिपाद्य

भाष्य

तत्त्वमसि' इत्यादिवत् संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः—क्वचित् परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा, क्वचिद् विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा। तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते, नाऽङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित्। एतमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्॥' (का० २।६।१७) इति॥ २५॥

भाष्यका अनुवाद

आत्मा है, वह तू है) इत्यादिके समान यह अङ्गुष्ठमात्र संसारी ही परमात्मा यहांपर कहा गया है, क्योंकि वेदान्तवाक्य दो प्रकारसे प्रवृत्त हैं, कहींपर परमात्माके स्वरूपका निरूपण करते हैं और कहींपर विज्ञानात्मा परमात्मासे अभिन्न है, ऐसा उपदेश करते हैं। यहां विज्ञानात्माका परमात्मासे अभेद दिखलाया है, किसीमें अङ्गुष्ठमात्र परिमाणका उपदेश नहीं है। इसी अर्थको 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो०' (अँगूठेके बराबर अन्तरात्मा पुरुष लोगोंके हृदयमें सदा संनिविष्ट है, जैसे मूँजसे भूआ—रूई को पृथक् करते हैं, उसी प्रकार धैर्यसे अन्तरात्माको अपने शरीरसे पृथक् करे। उसको शुद्ध और अविनाशी जाने) इस उत्तरवाक्यसे स्पष्ट करेंगे॥२५॥

रत्नप्रभा

प्रतिपाद्याभेदविरोधाद् अनुवाद्याङ्गुष्ठमात्रत्वं बाध्यम्, तात्पर्यार्थस्य बलवत्त्वाद् इत्याह—**तदिति**। क्वचिद्—अस्थूलमित्यादौ। क्वचित्—तत्त्वमसीत्यादौ। एकत्वार्थे वाक्यशेषमनुकूलयति—**एतमिति**। श्रुतिः यमो वा कर्ता द्रष्टव्यः। तम्—जीवम्, प्रवृहेत्—पृथक् कुर्यात्, धैर्येण बलवदिन्द्रियनिग्रहादिना, तम्—विविक्तमात्मानम्, शुक्रम्—स्वप्रकाशम्, अमृतम्—कूटस्थं ब्रह्म जानीयादित्यर्थः। तस्मात् कठवाक्यं प्रत्यग्ब्रह्मणि ज्ञेये समन्वितमिति सिद्धम्॥ २५॥ (७)

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमात्माके साथ अभेदके विरोधसे अनुवाद्य जीवका अङ्गुष्ठपरिमाण बाध्य है, क्योंकि तात्पर्य बलवान् है, ऐसा कहते हैं—"तद्" इत्यादिसे। 'कहींपर'—'अस्थूलम्' इत्यादि स्थलमें। 'कहींपर'—तत्त्वमसि इत्यादिमें। जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, इस विषयमें वाक्यशेष भी अनुकूल है, ऐसा कहते हैं—"एतम्" इत्यादिसे। श्रुतिवाक्य या यमको स्फुटीकरणका कर्ता समझना चाहिए। 'तम्'—जीवको, 'प्रवृहेत्'—पृथक् करे। 'धैर्येण'—बलवान् इन्द्रियोंके निग्रह आदिसे। 'तम्'—पृथक् कृत आत्माको 'शुक्रम्'—स्वप्रकाश, 'अमृतम्'—कूटस्थ ब्रह्म समझना चाहिए। इसलिए काठकवाक्यका समन्वय ज्ञेय ब्रह्ममें सिद्ध हुआ॥२५॥

[८ देवताधिकरण सू० २६—३३]

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवाः किंवाऽधिकारिणः ।
विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया ॥१॥
अविरुद्धार्थवादादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वतः ।
अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद् देवाद्या अधिकारिणः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—शरीर और सामर्थ्य आदिके न होनेके कारण उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है ।

सिद्धान्त—प्रमाणान्तरसे अविरुद्ध अर्थवाद आदि और मंत्र आदिसे ज्ञात होता है कि देवताओंका शरीर है और देवता आदिमें अर्थित्व भी सुलभ है,अतः उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि बृहदारण्यकमें 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणाम्' यह श्रुति है । उसका अर्थ है—देवताओंमेंसे एवं ऋषियोंमेंसे जिस जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह ब्रह्म ही हो गया ।

यहाँपर पूर्वपक्षी कहता है कि देवता और ऋषियोंको ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि 'अर्थी समर्थो विद्वाञ्शास्त्रेणापर्युदस्तोऽधिक्रियते' इस प्रकार कथित अधिकारके कारण—अर्थित्व, सामर्थ्य, विद्वत्ता और शास्त्रसे अनिषिद्ध होना अशरीर देवताओंमें संभव नहीं है । यह नहीं कह सकते कि मंत्र, अर्थवाद आदिसे देवताओंका सशरीरत्व जाननेमें आता है, क्योंकि विधिके साथ एकवाक्यताको प्राप्त हुए मंत्र आदिका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि अर्थवाद, तीन प्रकारका है—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद ।

"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥"

'आदित्यो यूपः' (सूर्य यूप—यज्ञस्तम्भ है) 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान प्रस्तर-कुशमुष्टि है) इत्यादि अर्थवादोंमें प्रत्यक्ष विरोध है, क्योंकि स्तम्भ आदित्य नहीं हो सकता और कुशमुष्टि यजमान नहीं हो सकती, अतः आदित्य आदि शब्दसे आदित्य आदिके समान यागका निर्वाह करणरूप गुण लक्षित होता है, इसलिए ये गुणवाद हैं । 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि जाड़ेकी ओषधि है) 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्र जानेवाला देवता है) इत्यादि अर्थवादोंमें प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध अर्थका अनुवाद है, अतः ये अनुवाद हैं । उक्त गुणवाद और अनुवादका स्वार्थमें तात्पर्य भले ही न हो किन्तु 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (इन्द्रने वृत्रासुरको वज्रसे मारा) इत्यादि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तरसे अविरुद्ध एवं प्रत्यक्ष आदिसे ज्ञायमान अर्थका अनुवाद न करनेवाले भूतार्थवादोंके स्वतः प्रामाण्य एवं स्वार्थमें तात्पर्यका कोई निराकरण नहीं कर सकता । भूतार्थवाद

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—तदुपरि, अपि, बादरायणः, सम्भवात् ।

पदार्थोक्ति—तदुपर्यपि—मनुष्यादुपरिष्टाद् ये देवादयस्तेषामपि, सम्भवात्—अर्थित्वसामर्थ्याद्यधिकारकारणसम्भवात् [ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति] बादरायणः [आचार्यो मनुते] ।

भाषार्थ—मनुष्यसे श्रेष्ठ देवता आदिमें अर्थित्व, सामर्थ्य आदि अधिकारके कारण हैं, अतः वे भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारी हैं, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं ।

——०——

भाष्य

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम्,

भाष्यका अनुवाद

अङ्गुष्ठमात्र श्रुति मनुष्यके हृदयके साथ संबन्ध रखती है, क्योंकि शास्त्रका

रत्नप्रभा

शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वे देवादीनां ब्रह्मविद्यायामपि अनधिकारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवादिति** । ननु समन्वयाध्याये अधिकारचिन्ता न सङ्गता इत्यत आह—**अङ्गुष्ठेति** । स्मृतस्य उपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शास्त्रमें यदि मनुष्योंका ही अधिकार हो तो देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें भी अधिकार नहीं होगा, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्" । यदि कोई कहे कि देव और ऋषियोंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है या नहीं, यह विचार समन्वयाध्यायमें असङ्गत है,

---

पदैकवाक्यतासे स्वार्थमें अवान्तर तात्पर्यका प्रतिपादन करके वाक्यैकवाक्यतासे विधिमें महातात्पर्यका प्रतिपादन करते हैं । मंत्रोंमें भी इसी न्यायकी योजना करनी चाहिए । इस प्रकार मंत्र और अर्थवादोंसे देवता आदि सशरीर हैं यह सिद्ध होने पर वेदान्तश्रवण आदिमें उनकी सामर्थ्य सुलभ ही है । ऐश्वर्य नश्वर एवं सातिशय है, यह ज्ञान होनेके कारण मोक्ष एवं उसके साधन ब्रह्मविद्यामें उनकी कामना हो सकती है । उनके उपनयन, वेदाध्ययन आदि न होनेपर भी वेदका स्वतः भान होनेके कारण उनमें विद्वत्ता भी है । इसलिए विद्यामें देवताओंका अधिकार किसीसे नहीं रोका जा सकता । यद्यपि अन्य आदित्य आदि देवताओंके न होने एवं आदित्यत्वादिप्राप्तिरूप विद्याफलके सिद्ध होनेके कारण आदित्य आदि देवताओंका आदित्यादिध्यानामिश्रित सगुणब्रह्मोपासनामें अधिकार न हो, तो भी निर्गुणब्रह्मविद्यामें उनका अधिकार माननेमें कोई दोष नहीं है, इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार है ।

भाष्य

तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते। बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्, न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति, तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद् ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। कस्मात्? सम्भवात्। सम्भवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम्। तत्राऽर्थित्वं तावन्मोक्ष-

भाष्यका अनुवाद

अधिकारी मनुष्य है, ऐसा पीछे कहा है, उसीके सिलसिलेमें यह कहा जाता है। अवश्य मनुष्य शास्त्रका अधिकारी है, परन्तु ब्रह्मज्ञानमें मनुष्य ही अधिकारी है, ऐसा नियम नहीं है। बादरायण आचार्यका मत है कि उनसे अर्थात् मनुष्यों-से श्रेष्ठ देवता आदि भी शास्त्रके अधिकारी हैं। किससे? सम्भवसे। अधिकारके कारण कामना आदिका उनमें भी संभव है। उन कारणोंमें मोक्षार्थी होना देवता

रत्नप्रभा

अत्र मनुष्याधिकारत्वोक्त्या स्मृतानां देवादीनां वेदान्तश्रवणादौ अधिकारोऽस्ति न वा इति सन्देहे भोगासक्तानां वैराग्याद्यसम्भवात् नेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—**बाढमिति**। एवमधिकारविचारात्मकाधिकरणद्वयस्य प्रासङ्गिकी सङ्गतिः। अत्र पूर्वपक्षे देवादीनां ज्ञानानधिकाराद् देवत्वप्राप्तिद्वारा क्रममुक्तिफलासु दहराद्युपासनासु क्रममुक्त्यर्थिनां मनुष्याणाम् अप्रवृत्तिः फलम्, सिद्धान्ते तु प्रवृत्तिः। उपासनाभिः देवत्वं प्राप्तानां श्रवणादिना ज्ञानाद् मुक्तिसम्भवादिति सफलोऽयं विचारः। ननु भोगासक्तानां तेषां मोक्षार्थित्वाभावात् न अधिकार इत्यत आह—**अर्थित्वं तावदिति**। विकारत्वेन अनृतविषयसुखस्य क्षयासूयादिदोषदृष्ट्या निर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसपर कहते हैं—"अङ्गुष्ठ" इत्यादि। स्मृतिपथारूढ़ विषयकी उपेक्षा न करना प्रसङ्ग है। यहां मनुष्यका अधिकार कहा है, इसलिए स्मृतिपथारूढ़ देवता आदिका वेदान्तश्रवण आदिमें अधिकार है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर वे भोगासक्त हैं, अतः उनमें वैराग्य आदि साधन सम्पत्तियोंका संभव नहीं है, इसलिए वे श्रवण आदिके अधिकारी नहीं हैं, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे। इस प्रकार दोनों अधिकरणोंमें अधिकारका विचार होनेसे इस अधिकरणकी पूर्व अधिकरणके साथ प्रसङ्ग संगति है। यहां पूर्वपक्षमें देवता आदिके ज्ञानमें अनधिकारी होनेके कारण देवत्वप्राप्ति द्वारा क्रममुक्तिके साधन दहर आदि उपासनाओंमें क्रममुक्तिकी अपेक्षा करनेवाले मनुष्योंकी अप्रवृत्ति फल है, सिद्धान्तमें तो उनमें प्रवृत्ति फल है। उपासनासे देवत्वको प्राप्त हुए लोगोंको श्रवण आदिसे ज्ञानद्वारा मुक्ति हो सकती है, इसलिए यह विचार (देवताओंका ज्ञानमें अधिकार है या नहीं यह विचार) सार्थक है। यदि कोई शङ्का करे कि विविध विचित्र आनन्दभोगमें आसक्त देवताओंमें वैराग्य न होनेसे मोक्षकी इच्छा

भाष्य

विषयं देवादीनामपि सम्भवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम्। तथा सामर्थ्यमपि तेषां सम्भवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्। न च तेषां कश्चित् प्रतिषेधोऽस्ति। न चोपनयनादिशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

आदिमें भी संभव है। देवताओंको यह ज्ञान होता है कि हमारा ऐश्वर्य परिणामशील एवं अनित्य है, इससे वे भी मोक्षार्थी हो सकते हैं। उसी प्रकार सामर्थ्य भी उनमें संभव है, क्योंकि मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकानुभवसे अवगति होती है कि वे शरीरी हैं। और उनके लिए किसी कर्ममें निषेध नहीं है। और उपनयन शास्त्रसे उनका अधिकार निवृत्त नहीं होता, क्योंकि उपनयन वेदाध्ययनके

रत्नप्रभा

तिशयसुखमोक्षार्थित्वं सत्त्वप्रकृतीनां देवानां सम्भवतीत्यर्थः। ननु इन्द्राय स्वाहा इत्यादौ चतुर्थ्यन्तशब्दातिरिक्ता विग्रहवती देवता नास्ति, शब्दस्य च असामर्थ्यात् न अधिकार इत्यत्र आह—**तथेति**। अर्थित्ववद् इत्यर्थः। अपर्युदस्तत्वमाह—**न च तेषामिति**। "शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवद् देवादीनां विद्याधिकारनिषेधो नास्तीत्यर्थः। ननु विग्रहवत्त्वेन दृष्टसामर्थ्ये सत्यपि उपनयनाभावात् शास्त्रीयसामर्थ्यं नास्तीत्यत आह—**न चेति**। जन्मान्तराध्ययनबलात् स्वयमेव प्रतिभाताः स्मृताः वेदाः येषां ते तथा तद्भावादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकती, इसलिए उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं—"अर्थित्वं तावद्" इत्यादिसे। अनृत—मिथ्याभूत विषयसुखमें विकार होनेसे क्षय, ईर्ष्या आदि दोष देखकर निरतिशयसुखरूप मोक्षमें सत्त्वप्रकृतिवाले देवताओंकी भी कामना हो सकती है। यदि कोई कहे कि 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि चतुर्थ्यन्त शब्दसे भिन्न कोई शरीरवाला देवता प्रतीत नहीं होता है, शब्दमें तो ज्ञानके साधनके अनुष्ठानकी सामर्थ्य नहीं है, अतः इन्द्र आदि देवताओंको अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं "तथा" इत्यादि। 'तथा'—अर्थित्वके समान। पर्युदासका अभाव कहते हैं—"न च तेषाम्" इत्यादिसे। 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इसमें जैसे शूद्रका कर्म्ममें निषेध कहा गया है; वैसे देवता आदिके अधिकारका निषेध नहीं है। यदि कोई शङ्का करे कि शरीरी होनेके कारण यद्यपि देवताओंमें ज्ञानसम्पादन करनेकी सामर्थ्य है, तो भी उपनयन न होनेसे उनमें शास्त्रीयसामर्थ्य नहीं है इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। अन्य जन्मके अध्ययनके बलसे उन्हें वेदका स्मरण स्वयं ही हो जाता है। बालक आदिमें

भाष्य

तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात् । अपि च एषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ८।११।३), 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादि । यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६।१।६,७) इति, न तद्विद्यास्वस्ति नहीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन

भाष्यका अनुवाद

लिए है और उनको वेदका प्रकाश स्वयं ही होता है । और 'एकशतं ह०' (एक सौ एक वर्ष तक इन्द्र प्रजापतिके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा), 'भृगुर्वै वारुणिः०' (वरुणका पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और उसने कहा कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञानका उपदेश कीजिए) इत्यादि श्रुतिवाक्यसे प्रतीत होता है कि विद्या-ग्रहणके लिए देवता आदि भी ब्रह्मचर्य आदि धारण करते हैं । 'न देवानां०' (देवताओंका कर्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि अन्य देवताओंका अभाव है) और 'न ऋषीणा०' (ऋषियोंका कर्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि दूसरा ऋषि-

---

रत्नप्रभा

बालादिषु प्रविष्टपिशाचादीनां वेदोद्घोषदर्शनात् । देवयोनीनां जन्मान्तरस्मरणम् अस्तीति स्मृतवेदान्तानामर्थविचारो युक्त इत्यर्थः । देवानां ऋषीणां च विद्या-धिकारे कारणम् अर्थित्वादिकम् उक्त्वा श्रौतं गुरुकुलवासादिलिङ्गम् आह—**अपि चेति** । ननु ब्रह्मविद्या देवादीन् न अधिकरोति, वेदार्थत्वाद्, अग्निहोत्रवद् इत्यत आह—**यदपीति** । देवानां कर्मसु नाऽधिकारः देवतान्तराणाम् उद्देश्यानाम् अभावादिति प्रथमसूत्रार्थः । ऋषीणाम् अनधिकारः ऋष्यन्तराभावात् ऋषियुक्ते कर्मणि अशक्तेरिति द्वितीयसूत्रार्थः । असामर्थ्यम् उपाधिरिति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रविष्ट हुए पिशाचादि द्वारा वेदका उद्घोष देखा जाता है, इसलिए देवता आदिको अन्य जन्मका स्मरण है, इसलिए स्मरण किए हुए वेदान्तोंका अर्थविचार युक्त है, ऐसा अर्थ है । देवों और ऋषियोंके विद्याधिकारमें कामना आदिको कारण कह कर गुरुकुलवास आदि श्रुतिमें कहे हुए लिंग कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि अग्निहोत्रके समान वेदार्थ होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें देवादिका अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं—"यदपि" इत्यादि । देवताओंका कर्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि जिनके उद्देश्यसे देवता कर्म करें, ऐसे अन्य देवता हैं ही नहीं, ऐसा प्रथम सूत्रका अर्थ है । ऋषियोंको कर्ममें आधिकार नहीं है क्योंकि अन्य ऋषियोंके न होनेसे ऋषियुक्त कर्ममें उनकी शक्ति नहीं है यह दूसरे सूत्रका

भाष्य

किञ्चित्कृत्यमस्ति, न च भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया। तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते। देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

समूह नहीं है) इत्यादिसे जो देवता आदिका कर्ममें अनधिकारका हेतु कहा है, वह विद्यामें नहीं है। वस्तुतः विद्याओंमें अधिकृत इन्द्र आदिका कोई भी कृत्य इन्द्र आदिके उद्देशसे नहीं है और भृगु आदि ऋषियोंका भी कोई कृत्य भृगु आदिके सगोत्रके उद्देशसे नहीं है। इस कारण देवताओंका भी विद्याओंमें अधिकार कौन रोक सकता है? देवता आदिके अधिकारमें भी अङ्गुष्ठमात्र श्रुति उनके अङ्गुष्ठकी अपेक्षा रखती है, अतः विरुद्ध नहीं है ॥२६॥

रत्नप्रभा

न तदिति। असामर्थ्यरूपं कारणमित्यर्थः। नहि अस्ति, येन असामर्थ्यं स्यादिति शेषः। "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणाम्" इति वाक्यबाधोऽपि अनुमानस्य द्रष्टव्यः। ननु देवादीन् प्रति अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः कथम्? तेषां महादेहत्वेन हृदयस्य अस्मदङ्गुष्ठमात्रत्वाभावात्। अतः श्रुतिषु तेषां नाधिकार इत्यत आह—देवाद्यधिकारेऽपीति ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है। असामर्थ्य उपाधि है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"न तद्" इत्यादिसे। 'तद्'—असामर्थ्यरूप कारण। 'नहि······अस्ति' के बाद 'येनासामर्थ्यं स्यात्' (जिससे उनमें असामर्थ्य हो) इतना शेष समझना चाहिए 'तद्यो यो देवानां०' (देव, ऋषि और मनुष्योंमें जिस जिसने यह जान लिया कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह ब्रह्म ही हो गया) इस वाक्यसे पूर्वोक्त अनुमानका बाध भी होता है, यह समझना चाहिए। यदि कोई कहे कि अङ्गुष्ठमात्र श्रुति देवताओंके पक्षमें किस प्रकार संगत होगी? क्योंकि उनके विपुलकाय होनेके कारण हमारे अँगूठेके बराबर उनका हृदय नहीं है, इसलिए श्रुतिमें उनका अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं—"देवाद्यधिकारेऽपि" इत्यादि ॥ २६ ॥

(१) 'ब्रह्मविद्या देवादीन्नाधिकरोति, वेदार्थत्वात्, अग्निहोत्रवत्' इस अनुमानमें 'असामर्थ्य' उपाधि है, क्योंकि वह साध्यका व्यापक तथा साधनका अव्यापक है, देवादि जहां जहां (कर्म आदिमें) अनधिकृत हैं, वहां वह अनधिकार असामर्थ्यरूप कारणसे ही है, इस प्रकार असामर्थ्य साध्यका व्यापक है। वेदार्थत्वरूप हेतु ब्रह्मज्ञानमें भी है, वहां देव आदिका असामर्थ्य नहीं है, क्योंकि श्रुतिसे ज्ञात होता है कि देव आदिको भी ब्रह्मज्ञान होता है, और वे मुक्त हो जाते हैं, इस प्रकार साधनका अव्यापक है। अतः उक्त अनुमान उपाधिग्रस्त होनेके कारण ब्रह्मज्ञानमें देवता आदिका अनधिकार सिद्ध नहीं कर सकता है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

पदच्छेद—विरोधः, कर्मणि, इति, चेत्, न, अनेकप्रतिपत्तेः, दर्शनात्।

पदार्थोक्ति—कर्मणि विरोधः—[इन्द्रादीनां विग्रहवत्त्वे एकस्य शरीरस्याऽनेकत्र कर्मणि युगपत्सन्निधानासम्भवात्] कर्मणि विरोधः प्रसज्येत, इति चेत्, न, अनेकप्रतिपत्तेः—एकस्याऽप्यनेकशरीराणां युगपत् प्राप्तेः, दर्शनात्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादिश्रुतौ दर्शनात्। [अथवा] अनेकप्रतिपत्तेः—अनेकत्र कर्मणि एकस्याऽङ्गभावस्य दर्शनात्, [इन्द्रादीनामपि अनेकत्र हविर्ग्रहणमुपपद्यते]।

भाषार्थ—इन्द्र आदि देवताओंके भी यदि शरीर हों तो एक शरीर अनेक स्थलोंमें होनेवाले कर्ममें एक ही समय उपस्थित नहीं हो सकता, इसलिए कर्ममें विरोध होगा अर्थात् यज्ञ आदि कर्मानुष्ठान असम्भव हो जायगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स एकधा०' (वह एक प्रकारका होता है, तीन प्रकारका होता है पाँच प्रकारका होता है) इत्यादि श्रुतिमें एक ही समय एकका ही अनेक शरीरोंका ग्रहण करना देखा जाता है। अथवा अनेक कर्मोंमें एक ही पदार्थका अङ्ग होना लोकमें देखा जाता है, अतः इन्द्र आदिका भी अनेक स्थलोंमें हवि ग्रहण करना उपपन्न होता है।

भाष्य

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो

भाष्यका अनुवाद

ऐसा होता परन्तु हो नहीं सकता है, क्योंकि यदि शरीरवत्त्व आदि स्वीकार कर

रत्नप्रभा

ननु मन्त्रादीनां प्रतीयमानविग्रहवत्त्वे तात्पर्यं कल्पयित्वा देवादीनामधिकार उक्तः, स च अयुक्तः, अन्यपराणां तेषां प्रत्यक्षादिविरोधेन स्वार्थे तात्पर्यकल्पनानुपपत्तेरिति आक्षिप्य सूत्रचतुष्टयेन परिहरति—**विरोधः कर्मणीत्यादिना**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सशरीर देवताओंमें मंत्र आदिके तात्पर्यकी कल्पना कर ब्रह्मविद्यामें देवता आदिका अधिकार कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध होनेके कारण उन मंत्रोंको अन्यार्थपरक मानना पड़ेगा, अतः स्वार्थमें उनके तात्पर्यकी कल्पना नहीं हो

भाष्य

वर्ण्येत विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत, तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्, नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते, न च सम्भवति, बहुषु यागेषु युगपदेकस्ये-

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिका विद्यामें अधिकार कहा जाय तो शरीरी होनेसे ऋत्विक् आदिके समान इन्द्र आदिका भी स्वरूपके संनिधानसे कर्ममें अङ्गभाव स्वीकार करना पड़ेगा, तब कर्ममें विरोध होगा। क्योंकि यागमें स्वरूपके संनिधानसे इन्द्र आदिका अंगभाव देखनेमें नहीं आता है। और हो भी नहीं सकता, क्योंकि बहुतसे यागोंमें एक ही समय एक इन्द्रकी स्वरूपसे उपस्थिति हो नहीं सकती है, ऐसा

रत्नप्रभा

वर्ण्येत तर्हीति शेषः। स्वरूपम्—विग्रहः। अभ्युपगमे प्रत्यक्षेण देवता दृश्येत, न च दृश्यते, अतो योग्यानुपलब्ध्या देवताया विग्रहवत्त्या अभावात् सम्प्रदानकारकाभावेन कर्मनिष्पत्तिः न स्यादित्याह—तदा चेति। विग्रहस्य अङ्गत्वम् अनुपलब्धिबाधितम्, युक्त्या च न सम्भवतीत्याह—न चेति। तस्माद् अर्थोपहितशब्द एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकेगी, ऐसा आक्षेप करके "विरोधः कर्मणि" इत्यादि चार सूत्रोंसे उसका परिहार करते हैं। 'वर्ण्येत' के बाद 'तर्हि' (तो) यह शेष समझना चाहिए। स्वरूप अर्थात् शरीर। ऐसा स्वीकार करनेपर देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन होना चाहिए, किन्तु होता नहीं, इसलिए योग्यानुपलब्धि रूप प्रमाणसे प्रतीत होता है कि देवता शरीरयुक्त नहीं हैं, अतः सम्प्रदानकारकके न होनेके कारण कर्मकी निष्पत्ति नहीं हो सकेगी, ऐसा कहते हैं—"तदा च" इत्यादिसे। शरीरका यागमें अंग होना अनुपलब्धि प्रमाणसे बाधित है और युक्तिसे भी संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। इसलिए अर्थोपहित शब्द ही देवता है, अचेतन होनेके कारण विद्यामें उसका अधिकार नहीं है, यह शङ्काका अर्थ है।

(१) वेदान्तियोंके माने हुए छः प्रमाणोंमें अनुपलब्धि एक प्रमाण है। प्रमाण वह कहलाता है जो प्रमा–यथार्थानुभवका करण–असाधारण कारण हो। ज्ञानरूप कारणसे अजन्य, अभावके अनुभवका करण अनुपलब्धि है, इसलिए वह प्रमाण है। अनुपलब्धि प्रमाणसे अतीन्द्रिय धर्म, अधर्म आदिका अभाव गृहीत नहीं होता है, इसलिए योग्य अनुपलब्धि ही अभावानुभवमें कारण है। इससे यही कहा गया कि घट आदिके ज्ञानका अभाव घटाभावानुभवमें कारण है। पुष्कल आलोक आदिसे युक्त भूतलमें यदि यहां घट होता तो उपलब्ध होता, उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए नहीं है, इस प्रकार आपादन आदिसे जो घटाभावका ज्ञान होता है, वह योग्य अनुपलब्धि प्रमाणसे होता है।

भाष्य

न्द्रस्य स्वरूपसंनिधानानुपपत्तेरिति चेत्; नाऽयमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्याऽपि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति। कथमेतदवगम्यते? दर्शनात्। तथाहि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य 'कतमे ते' इत्यस्यां पृच्छायाम् 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (बृ० ३।९।१,२) इति ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य

भाष्यका अनुवाद

कोई आक्षेप करे, तो यह आक्षेप नहीं हो सकता। किससे? अनेक प्रतिपत्ति होनेसे। एक ही समयमें एक ही देवता अनेक स्वरूप धारण कर सकता है। यह कैसे समझा जाय? इससे कि श्रुतिमें देखा जाता है। क्योंकि 'कति देवाः' (देवता कितने हैं) ऐसा उपक्रम करके 'त्रयश्च त्री च०' (तीन सौ तीन और तीन हजार तीन अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः हैं) ऐसा निर्वचन करके 'कतमे०' (वे कौन हैं) ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर 'महिमान एवैषा०' (ये इनकी महिमा ही हैं, देवता कुल तैंतीस ही हैं) यह कहती हुई श्रुति एक

रत्नप्रभा

देवता तस्या अचेतनत्वात् न विद्याधिकार इति शङ्कार्थः। परिहरति—**नायमिति**। एकस्याऽपि देवस्य योगबलाद् अनेकदेहप्राप्तिः श्रुतिस्मृतिदर्शनात् सम्भवति, अतो न कर्मणि विरोध इति व्याचष्टे—**कस्मादित्यादिना**। वैश्वदेवशस्त्रे शस्यमानदेवाः कति इति शाकल्येन पृष्टो याज्ञवल्क्यो निविदा त्रयश्च इत्यादिरूपया उत्तरं ददौ। निविन्नाम शस्यमानदेवसंख्यावाचकः शब्दः। षडधिकानि त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राणीति संख्योक्तौ संख्येयस्वरूपप्रश्ने महिमानो विभूतयः—सर्वे देवाः, एषाम् त्रयस्त्रिंशद्देवानाम्। अतः अष्टौ वसवः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्काका निराकरण करते हैं—"नायम्" इत्यादिसे। श्रुति और स्मृतिको देखनेसे प्रतीत होता है कि एक ही देवता योगबलसे अनेक देह धारणकर सकता है, इसलिए कर्ममें विरोध नहीं है, ऐसा व्याख्यान करते हैं—"कस्माद्" इत्यादिसे। वैश्वदेवशस्त्रमें कितने देवताओंकी स्तुति की गई है, जब शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे इस प्रकार पूछा, तब याज्ञवल्क्यने 'त्रयश्च' इत्यादि निविद्से उत्तर दिया। शस्यमान देवताओंकी संख्याका वाचक मंत्रपद 'निविद्' कहलाता है। तीन हजार तीन सौ छः, याज्ञवल्क्यके यह संख्या कहनेपर संख्येय देवताओंके स्वरूपके विषयमें शाकल्यने फिर प्रश्न किया कि वे कौन हैं? याज्ञवल्क्यने उसका उत्तर दिया कि इन

भाष्य

देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देवः' इति 'प्राणः' इति, प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा स्मृतिरपि—

भाष्यका अनुवाद

ही देवतात्माके एक ही समयमें अनेक रूप दिखलाती है। उसी प्रकार उन तैंतीस देवोंका क्रमशः छः, तीन, दो और एक में अन्तर्भाव दिखलाकर 'कतम एको०' (वह एक देव कौन है ? प्राण है) इस प्रकार देवताओंका प्राणरूप एक स्वरूपको दिखलाती हुई श्रुति उसी एक प्राणमें एक ही समयमें अनेक स्वरूप दिखलाती

रत्नप्रभा

एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, इन्द्रः प्रजापतिश्च इति त्रयस्त्रिंशद्देवाः, तेऽपि षण्णाम् अग्निपृथिवीवाय्वन्तरिक्षादित्यदिवां महिमानः, तेऽपि षट्सु देवेषु अन्तर्भवन्ति। षट् देवास्त्रिषु लोकेषु, त्रयश्च द्वयोः अन्नप्राणयोः, द्वौ च एकस्मिन् प्राणे हिरण्यगर्भे, अन्तर्भवत इति दर्शितम् इत्यर्थः। त्रयस्त्रिंशतोऽपि देवानामिति सम्बन्धः। दर्शनं श्रौतं व्याख्याय स्मार्तं व्याचष्टे—तथा स्मृतिरिति। बलं योगसिद्धिम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

तैंतीस देवताओंकी ये सब देवता विभूति हैं। इसलिए ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति ये तैंतीस[1] देवता हैं। ये तैंतीस देवता अग्नि, पृथिवी, वायु, आन्तरिक्ष, आदित्य और दिव इन छः की विभूतियां हैं, अतः छः हीमें सब अन्तर्भूत होते हैं। इन छः देवताओंका तीनमें—पृथिवी, अन्तरिक्ष और दिव—में अन्तर्भाव होता है। ये तीन अन्न प्राण इन दोमें अन्तर्भूत होते हैं और वे दो एक प्राण—हिरण्यगर्भमें अन्तर्भूत होते हैं, इस प्रकार दिखलाया गया है। 'त्रयस्त्रिंशतोऽपि' का 'देवानां' के साथ संबन्ध है। श्रौतदर्शनकका व्याख्यान करके स्मार्त दर्शनका व्याख्यान करते हैं—"तथा स्मृतिः" इत्यादिसे। बल—योगसिद्धि। अणिमा,

(१) अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, दिव चन्द्रमा और नक्षत्र आठ वसु हैं। ये प्राणियोंके कर्मफलके सहारे कार्यकारणरूप संघातमें परिणाम पाकर जगत् बसाते हैं, इसलिए वसु कहलाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये ११ रुद्र हैं, ये मरणकालमें शरीरसे उत्क्रमण करते हुए प्राणियोंको रुलाते हैं, अतः रुद्र कहलाते हैं। संवत्सरके अवयव १२ मास द्वादश आदित्य हैं। ये बारंबार परिवर्तन करते हुए प्राणियोंकी आयु और कर्मफलके उपभोगको ले लेते हैं, अतः आदित्य कहलाते हैं। अशनि वज्र ही इन्द्र है। यह इन्द्रका बल है, परम शक्ति है, उससे वह सब प्राणियोंका शासन करता है, इसलिए अशनि इन्द्र है, यज्ञ प्रजापति है। यज्ञका साधन और यज्ञरूप पशु प्रजापति हैं।

भाष्य

'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥'

इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति। किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्तिसम्भवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु

भाष्यका अनुवाद

है। उसी प्रकार 'आत्मनो वै०' (हे भरतपुङ्गव ! योगी योगमहिमासे अपने अनेक शरीर धारण कर सकता है और उन सबसे पृथिवीपर कुछ शरीरोंसे विचरण कर सकता है, कुछसे विषयभोग प्राप्त कर सकता है और कुछसे उग्र तप कर सकता है और फिर जैसे सूर्य अपनी किरणोंको समेट लेता है वैसे उन शरीरोंको समेट सकता है इत्यादि स्मृति भी जिन्होंने अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किये हैं, उन योगियोंका भी एक ही समयमें अनेक शरीरोंसे संबन्ध दिखलाती है, तो जन्मसे सिद्ध देवताओंके विषयमें कहना ही क्या है ? अनेक रूप धारण कर सकनेके कारण प्रत्येक देवता बहुत रूपोंमें विभक्त होकर एक

रत्नप्रभा

"अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरीशिता। प्राकाम्यं च वशित्वं च यत्रकामावसायिता" ॥ (मार्कण्डेयपु०) इति अष्टैश्वर्याणि। क्षणेन अणुः महान् लघुः गुरुश्च भवति योगी। अङ्गुल्या चन्द्रस्पर्शः—प्राप्तिः। ईशिता—सृष्टिशक्तिः। प्राकाम्यम्—इच्छानभिघातः। वशित्वं—नियमनशक्तिः। सङ्कल्पमात्राद् इष्टलाभः—यत्रकामावसायिता इति भेदः। आजानसिद्धानाम्—जन्मना सिद्धानाम् इत्यर्थः। फलितमाह—**अनेकेति**। अनेकेषु कर्मसु एकस्य प्रतिपत्तिः अङ्गभावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

महिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईशत्व, प्राकाम्य, वशित्व और यत्रकामावसायिता—आठ ऐश्वर्य हैं। योगी क्षणभरमें सूक्ष्म, महान्, हलका और भारी हो जाता है। प्राप्ति—अँगुलीसे चन्द्रका स्पर्श। ईशता—सृष्टि करनेकी शक्ति। प्राकाम्य—इच्छाका व्याघात न होना अर्थात् कहींपर भी इच्छाका कुण्ठित न होना। वशित्व—नियमनशक्ति। यत्रकामावसायिता—सङ्कल्पमात्रसे इष्टकी प्राप्ति। 'जन्मसे सिद्ध'—जन्मसे जिन्होंने सिद्धि प्राप्तकी है। फलित कहते हैं—"अनेक" इत्यादिसे। अनेक कर्मोंमें एककी प्रतिपत्ति—अङ्गभाव।

भाष्य

युगपदङ्गभावं गच्छति, परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियाशक्तियोगादित्युपपद्यते।

अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्याऽपरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते। क्वचिदेकोऽपि विग्रहवानेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद् भोज्यते। क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवानेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते। तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्मकत्वाद् यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत् परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां न किञ्चित्कर्मणि विरुध्यते ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

ही समय बहुत यागोंका अंग होसकता है और अन्तर्धान आदि सामर्थ्यसे अन्य पुरुष उसे नहीं देख सकते। इसलिए देवताओंका विद्यामें अधिकार युक्त है।

'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इसकी दूसरी व्याख्या—शरीरियोंकी भी कर्मके अंग बनानेमें भिन्न भिन्न प्रतिप्रत्तियां दिखाई देती हैं। कहींपर एक ही शरीरी अनेक स्थलोंपर एकही समयमें अंग नहीं बन सकता है जैसे कि भोजन करानेवाले बहुत मनुष्यों से एक ही समयमें एक ही ब्राह्मण नहीं खिलाया जा सकता। कहीं पर एक ही समय नमस्कार करनेवाले बहुत मनुष्यों से एक ही ब्राह्मण नमस्कृत होता है। उसी प्रकार यहां यागके उद्देशपरित्यागात्मक होनेसे अर्थात् देवताके उद्देशसे द्रव्यका त्याग करना, यही यागका स्वरूप होनेके कारण एक ही शरीरी देवताके उद्देशसे बहुत लोग अपने अपने द्रव्यका एक ही समय त्याग कर सकेंगे, इसलिए देवताओंके शरीरी होनेपर भी कर्ममें कुछ विरोध नहीं है ॥२७॥

रत्नप्रभा

तस्य लोके दर्शनाद् इति वक्तुं व्यतिरेकमाह—**क्वचिदेक इति**। प्रकृतोपयुक्तमन्वयदृष्टान्तमाह—**क्वचिच्चेति** ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह बात व्यवहारमें देखी जाती है, ऐसा कहनेके लिए व्यतिरेक दिखाते है—"क्वचिदेक" इत्यादिसे प्रस्तुत विषयमें उपयुक्त अन्वय दृष्टान्त कहते हैं—"क्वचिद्" इत्यादिसे ॥२७॥

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेमें रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक,

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।

यद्भद्रं तन्न आसुव ॥